कफ-परीक्षा

(Examination of the sputum by laboratory-methods)

लेखक :—

आयुर्वेदाचार्य रमेशचन्द्रवर्मा

D. I. M. S. M. Sc. A.

प्राध्यापक आयुर्वेदविश्वविद्यालय, झांसी

प्रकाशक।—

मोतीलाल बनारसीदास

पोस्ट बक्स नं० ७५ नेपालीखपरा, बनारस

प्रथमावृत्ति] १९५२ मूल्य १)

प्राक्कथन

श्रीधन्वन्तरि की असीम अनुकम्पा से मैं "Clinical-practical-pathology" का कुछ अंश केवल आयुर्वेद महाविद्यालयों के छात्रों की कठिनाई दूर करने के लिये छोटी सी हिन्दी भाषा में लिखित कफपरीक्षा नामक पुस्तक के रूपमें प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसके लिखने में अनेक वैज्ञानिक अर्वाचीन ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी है, अतः मैं उन ग्रन्थकारों का भी अत्यन्त आभारी हूँ, इनमें मुख्यतया Clinical-pathology,by Todd and Sanford एवं Clinical-methods by Hunter नामक ग्रन्थ अधिक उल्लेखनीय हैं।

इस पुस्तक में मत-मतान्तरों के साथ ही विद्यार्थियों को सुलभता पूर्वक रचनाओं का परिज्ञान कराने के लिये विशिष्ट स्थानों पर चित्र भी दिये गये हैं।

आशा है छात्रवर्ग मेरे इस प्रयास से सफलता प्राप्त कर सकेगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशक महोदय तथा अन्य कर्मचारियों को भी मैं धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने अथक परिश्रम तथा आत्मीयता के साथ ग्रन्थ प्रकाशनकार्य शीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न किया है।

सम्वत् २००९

रमेशचन्द्र वर्मा

कफपरीक्षा के प्रमाण ग्रन्थ

(A LIST OF BOOKS CONSULTED)

1 Clinical Methods By Hutchison and Hunter
2 Clinical Diagnosis-By Todd and San Fud
3 The methods of Clinical Diagnosis By Gibson and Collier
4 Bed Side Medicine By Mazumdar
5 Bed Side Practical Pathology By Mazumdar
6 A text Book of Pathology By Boyds
7 A text Book of Pathology By Banerji
8 Practical Bacteriology By Mackie and Mackaterney
9. Goulds, Pocket Dictionary
10. Clinical Interpretations By Various Authors

शुद्धिअशुद्धि पत्र (Corrigendum)

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ
१–कौलोमनर	कालमनर	२
2–Sramus	Squamus	2
३–होना	होनी	३
4–Chtrarctrisitic	Characteristics	4
5–Ditlirichs	Dittirich's	5
६–से	उससे	५
७–जिनके	जिसका	७
८–अन्य	अन्न	८
९–रक्तक्षीण	रक्तष्ठीवन	८
१०–फ्रेब्रेनस	फाइब्रोनस	११
११–माइक्रेसा कोपिक	माइक्रेसकोपिक	११
१२–इपीथीलिरअल	इपीथिलियल	१२
१३–धातुवीय	धात्वीय	१३
१४–पेरासाइड्स	पेरासाइट्स	१३
१५–ननमोटाइलविसलाइल	ननमोटायलवेसिलाई	१५
१६–Spirall	Spirals	१६
१७–Crushmans	Crushmann's	१६
१८–करसिव सप्लीमेट	कोराजिव सवलीमेट	२४
१९–मेक्रोकोकसफ्रेटेलिरिलिस	माइक्रोकोकसकटेरेलिस	२५
२०–अवरक	आवरक	२६
२१–वेशेलेस	वेंसिलस	३४
२२–परीस्रुत	परिस्रुत	३६

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ
२३–सल्फेड	सल्फेट	३६
२४–अल्टावायिलेटवेश्ज	अल्ट्रावायलेटरेज	३७
२५–ट्रेपवाटर	टेपवाटर	३८
२६–डाइफरोम	डाइफराम	३९
२७–मिताश्रयी	मृताश्रयी	४०
२८–ग्राम्सस	ग्राम्स	४२
२९–लिखना	देखना	४४
३०–हल्का	हल्के	४५
३१–आवातातपीक	अवातातपी	४७
३२–द्योतन	द्योतक	४८
३३–बहुकन्द्रीय	बहुकेन्द्रीय	४९
३४–एलास्ट्रिक	एलास्टिक	५४
३५–भाव	भाग	५५

अध्यायानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

परिशिष्ट

चित्र सूची

कफपरीक्षा

AN EXAMINATION OF THE SPUTUM

प्रथम अध्याय

यदि किसी भी परीक्ष्य व्यक्ति का श्लेष्मा परीक्षार्थ देखना हो तो उसके पूर्व विद्यार्थियों को यह जानना नितान्त आवश्यक है कि जिन स्थानों से कफ का निःसरण अथवा उद्रेचन होता है वे किस अवस्था में हैं। स्वस्थ हैं या अस्वस्थ, इसका महत्त्वप्रद कारण यह है रोगी का कफ निकलते समय उनमें से उन स्थानों से श्राव मिश्रित हो जाया करता है। क्योंकि श्लेष्मा का रंजित तथा अरंजित दोनों दशाओं का ज्ञान होना अनिवार्य हो जाया करता है। जब कभी नासामार्ग द्वारा रोगी का श्लेष्मा अथवा जिह्वा या दांतों द्वारा निकालकर परीक्षार्थ आता है, उस समय इन अंगों की रचनाओं के विषयमें विशद ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जिससे श्लेष्मा मिश्रित एवं अन्य रचनाओं को सहज पूर्वक पहचाना जा सके। यदि किसी भी रोगी के कफ को अणुवीक्ष्य यंत्र द्वारा अरंजित दशा में ही परीक्षण किया जाय और रंजित दशा में भी देखाजाय तो उनकी रचनाओं में जो विशेष परिर्वतन हों उनको ध्यान में रखना चाहिये। साधारणतया इनकी रचनाओं में विभेदन करने के लिये कांचपट्टिका पर एक बिन्दु लिगोल्स सेलूशन (Lugols, solution) अथवा ल्यूगोल्स का रंजन डाल देने के बाद जैसे ही

उसका प्रभाव सम्पूर्ण श्लेष्मा पर हो जाय, तब उनकी रचनाओं में जो परिवर्त्तन हों उसको लिख लेना चाहिये। इसी प्रकार श्लेष्माके किसी भी साधारण रंजक अथवा ग्राम की विधि द्वारा रंग कर देख लिया जाता है। सामान्यतया निम्नलिखित रचनायें ही द्रष्टव्य होती हैं।

कौलौमनर और स्क्वेमस (Columnar-and, sqamus) प्रकारीय कोषों कें एपीथिलिअल सेल्स।

श्वेतकण लिकोसाइट्स (Leucocytes) मुख्यतया इनमें बहु-केन्द्रीय श्वेतकण लाला अथवा श्लैष्मिक कण अन्य कण तथा लेप्टोट्राइकिया वेक्येलिस (Leptotrichia-buccalis) एवं अधिक संख्या में मृताश्रयी और पराश्रयी जीवाणु एवं कुछ अंश में वक्राणु अमीवा आदि पाये जाते हैं।

सामान्यतया परीक्षा के लिये जो श्लेष्मा ग्रहण किया जाना चाहिये या तो वह प्रातः काल का ही श्लेष्मा हो, अथवा चौबीस घंटे में रोगी के श्लेष्मा का जितना भी निष्काशन हो उसको सम्पूर्ण एकत्रित कर लेना चाहिये।

सामान्य कारण यह है कि प्रारम्भिक राजयक्ष्मा रोग में जीवाणु प्रातः कालीन श्लेष्मा में सुगमता से पाये जा सकते हैं। अधिक मात्रा में एकत्रित कफ में राजयक्ष्मा के जीवाणु का पृथक् करण करना थोड़ा कठिन हो जाया करता है। कभी कभी राजयक्ष्मा के प्रारम्भिक अवस्था में रोगी के मुख से जो सपूय श्लेष्मा का श्राव होता है उसमें जीवाणु मिल जाते हैं, अथवा पूय मिश्रित किंचित् श्लेष्मा में भी कुछ दिवस बाद दिखाई पड़ते हैं, परन्तु रोगी इन बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया करते हैं।

रोगी का कफ परीक्षार्थ लेना हो, तब उसने प्रथम अपने मुख की आभ्यन्तरिकशुद्धि जल द्वारा करवा ले, जिससे कि परीक्षक को यह भ्रम न उत्पन्न हो सके कि कहीं भोजनादि के कणों का सम्मि-

श्रण तो नहीं है और वह यह निश्चय कर सके कि कफ फुप्फुस या वायुप्रणाली से आ रहा है न कि नासिका अथवा स्वरयंत्रसे। बहुत से परीक्षकों को इसप्रकार जीवाणु का परिज्ञान करने में कठिनाई आभास होती है, जहाँ तक हो सके परीक्षार्थ रोगी का श्लेष्मा अधिक राशि में ही संग्रह करना होता है। कुछ जीर्ण राजयक्ष्मा के रोगियों में कफ बिल्कुल ही नहीं पाया जाता है थोड़ी सी राशि में कफ का स्राव होता है, जो कि वायु प्रणाली तथा श्वास प्रणाली में उत्तेजना होने से बाहर आ जाया करता है। यहां तक देखा गया है कि उसको स्वरयंत्र तक पहुंचते ही रोगी कफको निगल जाता है। छोटी आयु के बालक कफ को अधिकांश निगल ही जाया करते हैं, एतदर्थ इनकी परीक्षा करना कठिन है। ऐसे रोगियों का कफ परीक्षण न करके यदि मल परीक्षण किया जाय, तब यक्ष्मारोगों के रोगियों के निदान में कभी कभी सहायता मिला करती है।

कफ को संग्रह करने के लिये एक चौड़े मुख की स्वच्छ बोतल होना चाहिये और उसकी डाट बहुत ही ठीक लगने वाली हो। रोगी से कहो कि अपना कफ बोतल में ही निकाले, बोतल के बाह्य भाग पर तनिक भी श्लेष्मांश न गिरने पावे यदि परीक्षक अथवा अन्य परिचारक संग्रह करने में यत्किंचित् भी असावधानी करेंगे, तब उनको रोगका उपसर्ग हो सकता है। इस विधि द्वारा संगृहीत कफ में किसी भी प्रकार का विसंक्रामक द्रव्य अथवा विलयन नहीं डालना चाहिये। कभी कभी फिनोल को छोड़ सकते हैं, लेकिन इससे श्लेष्मा के स्वभाव में थोड़ा परिवर्तन हो सकता है, जो कि आगे अन्य परीक्षा के योग्य नहीं रहता है। जहां तक हो सके विसंक्रामक द्रव्यों का उपयोग करना ही अपादेय है।

रोगीके कफ की पूर्णपरीक्षा करने के बाद उसको वन्सन ताप अथवा अग्नि द्वारा या किसी भी रासायनिक द्रव्य के संयोग से नष्ट कर देना चाहिये। परीक्षा करते समय जो अन्य उपकरण प्रयोग में लाये गये हों, उनका भी सम्यक् रूपेण विशोधन कर लेना चाहिये। इतनी सावधानी रखनी चाहिये कि रोगी के कफ का किंचित् अंश भी शुष्क होकर वायु में न उड़ जाय अन्यथा किसी भी व्यक्ति को श्वास प्रश्वास द्वारा उपसर्गित हो सकता है। विशेषतया मक्खियों को बचाना चाहिये। सुगम उपाय यह है कि किसी बड़े अखबार को नीचे बिछाकर उसके ऊपर कफ परीक्षण कर ले, और बाद में उसको जलाकर नष्ट कर दे। कार्य समाप्ति के बाद मेज को १० प्रतिशत शक्ति के लाइसोल अथवा कोई अन्य विसंक्रामक विलियन द्वारा पूर्णतया स्वच्छ कर लेना चाहिये। सामान्य तया कफपरीक्षण को निम्न भागों में विभाजित किया गया है।

१—भौतिकपरीक्षण (Physical-Examination)

२—अणुवीक्ष्यपरीक्षण (micros-copic Examination)

३—रासायनिक परीक्षण (Chemical-Examination)

४—विभिन्न रोगों में श्लेष्मा का स्वरूप (Characterisitic ofthe sputum, in, Various-disease)

भौतिक परीक्षण

इसी परीक्षा को प्रत्यक्षदर्शन नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसमें निम्न लिखित बातें विशेष महत्त्व की हैं।

१—श्लेष्मा का परिमाण-Quantity

२—श्लेष्मा का वर्ण-Colour

३—श्लेष्मा की घनता—Consistency

४—श्लेष्मलस्तरीय—Layer Formation
५—श्लेष्मा का गन्ध–Oudour
६—डिट्रिच महोदय का प्लग–Dithirichs-Plug
७—फुफ्फुसीय अश्मरी–Lung stone
८—वोन्कियल कास्ट–Bronchial-cast

श्लेष्मा का परिमाण

रोगी के चौबीस घण्टे में कफ की मात्रा अधिक होती है। प्रारम्भिक राजयक्ष्मा की अवस्था में कफ की अल्प मात्रा को देखकर प्रायः लोग असावधानी ही किया करते हैं। अल्पमात्रा में कफ तीव्र कास तथा खंडीय श्वसनक ज्वर में (लीवर निमोनिया) में पाई जाती है। इसी कफ की अधिक मात्रा निम्न रोगों में बढ जाती है–लगभग एक हजार शीशी मात्रामें रोगी का कफ निकला करता है।

राजयक्ष्मा की अन्तिम अवस्था के साथ ही फुफ्फुस में विवरीभवन हो, फुप्फुसीय शोथ वायु प्रणाली विस्तार फुफ्फुसीय विद्रधि का विदीर्ण होना पूय वातो रस (एमपोइमिया रोग आदि) सामान्यतया यह जानना आवश्यक है कि कितनी मात्रा में कफ निकलता है लेकिन कफ की मात्रा का समुचित मापन करना आवश्यक है।

श्लेष्मा का वर्ण

सामान्यतया कफ में अधिकांश रूपेण श्लेष्मा और पूय विद्यमान रहा करते हैं, इनकी समानता वर्ण हीन (ट्रान्जुलूशेन्ट) श्लेष्मा जो कि अपार दर्शक होता है से की जा सकती है, श्वेत और पीत पूय मिश्रित श्लेष्मा ही पाई जाती है। जीर्ण कास तथा वर्धित यक्ष्मा रोग में कभी कभी अल्पांश हरित, पीत वर्ण का

श्लेष्मा निकला करता है। कामला, श्वसनक ज्वर, तथा उसकी उपसमावस्था में तीव्र हरित वर्ण का श्लेष्मा आया करता है। उसका कारण यह है कि उस कफ में पित्त और पित्तकण आया करते हैं। जब कभी कभी, यकृत विद्रधि विदीर्ण होकर उसका कुछ अंश फुप्फुस में आ जाये तब उस समय तीव्र हरित और पीत वर्ण का श्लेष्मा निकल सकता है। इसी वर्ण का श्लेष्मा श्वसनक ज्वर में भी पाया जाता है शोणित एवं रक्त पूय वर्ण का श्लेष्मा निकलने से यह आभास होता है कि रोगी के कफ में रक्त और रक्त कण आते हैं कि जिनको श्लेष्मा से भिन्न किया जा सकता है। तीव्र रक्तवर्ण का श्लेष्मा राजयक्ष्मा रोग का बहुत सहायक है। यदि किसी भी व्यक्ति में तीव्र शोणित वर्ण का श्लेष्मा रोग के प्रारम्भ में ही दृष्टिगत हो जाय तब उस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये, अन्यथा यह स्वरूप राजयक्ष्मा रोग के बढ़ने में सहायक होता है। पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रक्त युक्त श्लेष्मा कभी कभी नासा तथा स्वरयंत्रीय प्रतिश्याय में भी आता है। शोणित रंजित श्लेष्मा वायु प्रणाली विस्तार रोग में कभी कभी देखा गया है मन्डूर युक्त रक्त श्लेष्मा क्रुप्स श्वसनक ज्वर में मिलता है जो कि उस रोग में विकृत जन्य होता है, इसी प्रकार के वर्ण का श्लेष्मा फुप्फुसी धमनी जन्य कोथ (पलमोनरी इनफोरेक्शन) में पाया जाता है ('Prunejuice') प्रनिजूस वर्ण का श्लेष्मा मद्य-पान करने से जो श्वसनक ज्वर उत्पन्न होता है, उन रोगियों में मिलता है इससे थोड़ा हिस्से में जो गम्भीरता का ज्ञान होता है जिससे फुप्फुस में शोथका आभास होता है। भूरिवर्ण का श्लेष्मा या तो रक्तकण मिश्रित होने से अथवा फुप्फुसीय रक्तश्राव होने के कारण अथवा जीर्ण फुप्फुसीय रक्त अधिकता के कारण हो सकता है।

जो कि अधिकतर कभी कभी हृदय में (Lesion) से हो जाता है। कृष्णवर्ण और भूरि श्लेष्मा कोयलों के खानों में कार्य करनेवाले व्यक्तियों में पाया जाता है। इनके अलावा उनमें भी मिल सकता है जो कि धूम्रपान करते समय उस धूम्र को अन्तः शोषित कर लिया करते हैं, या जिनके इस प्रकार का स्वभाव हो गया हो।

श्लेष्मा की घनता

श्लेष्मा में उपस्थित रहनेवाले पदार्थों के कारण निम्न वर्गीकरण किया गया है। १–तरल श्लेष्मा (शीरस) २–सपूय श्लेष्मा–(प्रूलेन्ट) ३–तरलपूय युक्त श्लेष्मा (सीरोप्रुलेन्ट) ४–सपूय घन श्लेष्मा (म्यीको प्रयूलेन्ट)।

तरल श्लेष्मा

यह श्लेष्मा श्लेष्मीय स्तर रहित होता है इसमें श्लैष्मिक धातुओं के सूत्र नहीं पाये जाते हैं, यह पतला और जल सदृश रक्त रंजित होता है। इससे फुप्फुसीय शोथ का निर्देश होता है इसी रोग में कभी कभी शोणित वर्ण श्लेष्मा न होकर साबुन के सदृश श्वेत वर्ण का श्लेष्मा पाया जाता है।

श्लेष्मसूत्र सहित कफ

जिस कफ में अधिकांशरूप में श्लैष्मिक कलायें विद्यमान हों तो नूतनकास समझना चाहिये यह देखने में स्वच्छ, कठिन तथा चिपका हुआ होता है। रोग की दृष्टि से कफ़ की मात्रा अधिक नहीं पाई जाती जब यही कास जीर्ण स्वरूप का हो जाता है तब कफ में पूयकोषाणु भी मिश्रित रहा करते हैं, इस अवस्था का कफ पूर्व कथित अवस्था से कुछ कम ठोस और अधिक घन होता है और उसका रंग हरित पीत होता है। इस प्रकार के कफ को अपक्व

श्लेष्मा क्रूडम स्पूटम (Crudum Sputum) कहते हैं आगे इसी प्रकार का श्लेष्मा सावेग श्वास रोगियों में मिला करता है।

सपूय घन श्लेष्मा

प्राय: फुफ्फुस के अनेक रोगों में पाया जाता है, राजयक्ष्मा रोग में जब फुफ्फुसीय विद्रीभवन हो जाता है तब उस दशा में रोगी का कफ अधिक निकलता है और उसमें छुद्र विदीर्ण हुये पूय और श्लैष्मिक कलाओं के सूत्र मालूम किये जा सकते हैं जब तक इनमें से वायु बाहर नहीं होती है तब तक इनका भार अन्य श्लेष्म घटकों से अधिक ही रहा करता है, इस कारण यही श्लेष्मा जल में डालने पर नीचे बैठ जाता है और चौड़े पात्र में डालने पर फैल जाता है। जिसकी समानता बटन सदृश हो सकती है। इन्हीं के द्वारा:—नेमुलर स्पूटम (Nammular-sputum) का निर्माण होता है, जो विशेषतया यक्ष्मा रोग में ही बनता है। यदि इसी श्लेष्मा के साथ जल और तरल युक्त कफ का संमिश्रण हो जाय तब यह शनैः शनैः तीन स्तरों में अवतरित हो जाया करता है ।

१—नीचे का कफ अधिक गाढ़ा और मध्य का तरल युक्त श्लेष्मा एवं ऊर्ध्वस्तल गाढा चिपका हुआ श्लेष्म युक्त होता है। इस प्रकार का कफ वायु प्रणाली विस्तार रोग में ही मिल सकता है अवशिष्ट कफों की समानता इन्ही के अन्तरगत ही आ जाती है।

रक्तमिश्रित श्लेष्मा

रक्त मिश्रित कफ स्वयं पृथक निकल सकता है। इसमें कभी कभी थोड़े बहुत अंश में शोणित मिल जाया करते हैं, इस शोणितकी सापेक्षता ऊर्ध्व रक्त पित्त नासा रक्तस्राव, आमाशयगत रक्तस्राव, अथवा अन्य मार्ग में शिरागुच्छ हो जाने पर जो रक्त क्षीण होता है उससे करना होता है। इन रोगों में शोणित वर्ण

की तीव्रता एवं घनता निदान में सहायक होती है। कुछ रोगियों में मुखद्वारा रक्तष्ठीवन दो चार दिवस निरन्तर आया करे या जब कभी ऊर्ध्व आन्त्र नलिकाओं से तीव्र शोणित वर्ण का निकले तब उसकी सादृश्यता रक्तपित्तः- (malena) रोग से निश्चित रूपेण की जा सकती है। मुख से रक्तष्ठीवन निम्न लिखित फुफ्फुसीय और हृदय संस्थानियों विकृतियों में हो सकता है। फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा, वायुप्रणाली विस्तार, फुफ्फुसीय वायु अवरोध, फुफ्फुसीय घातक अर्बुद, त्रिपत्र कपाटीय संकर्षण और बृहतधमनी विस्तार रोग।

श्लेष्माका स्तर हो जाना (लेंअर फारमेशन)

यदि किसी बड़ी शीशी में अधिक कफ को इकट्ठा कर दिया जाय तो तीन स्तरों में विभक्त हो जाता है १--नीचे का अधिक घन कफ और मध्य भाग का तरल युक्त श्लेष्मा और ऊर्ध्वस्तर घन संसक्त होता है। वास्तव में यह फुफ्फुस में निर्जीव गत्वान्क (गेन्ग-रीन) होने पर फुफ्फुसीय विद्रधि वायु प्रणाली विस्तार रोग में हुआ करता है।

श्लेष्मा की गन्ध

कभी कभी श्लेष्मा की गन्ध में विशेषताएँ होती हैं। सामान्यतया कफ में स्टेल (Stale) प्रकार की गन्ध आती है, लेकिन फुफ्फुस में निर्जीव गत्वान्क होने पर और सपूय कास रोग तथा वायुप्रणाली विस्तार में दुर्गन्ध युक्त तीव्र नासा मार्गको भेदन करने वाली गन्ध आया करती है।

डिट्रिच महोदय का प्लग

यह रचनायें विशेष प्रकार की होती हैं जो कभी कभी श्लेष्मा में मिलती हैं और अल्प अंश में इनसे पृथक निकला करती हैं। यह

श्लेष्मा क्रूडम स्पूटम (Crudum Sputum) कहते हैं आगे इसी प्रकार का श्लेष्मा सावेग श्वास रोगियों में मिला करता है।

सपूय घन श्लेष्मा

प्राय: फुप्फुस के अनेक रोगों में पाया जाता है, राजयक्ष्मा रोग में जब फुप्फुसीय विद्रीभवन हो जाता है तब उस दशा में रोगी का कफ अधिक निकलता है और उसमें छुद्र विदीर्ण हुये पूय और श्लैष्मिक कलाओं के सूत्र मालूम किये जा सकते हैं जब तक इनमें से वायु बाहर नहीं होती है तब तक इनका भार अन्य श्लेष्म घटकों से अधिक ही रहा करता है, इस कारण यही श्लेष्मा जल में डालने पर नीचे बैठ जाता है और चौड़े पात्र में डालने पर फैल जाता है। जिसकी समानता बटन सदृश हो सकती है। इन्हीं के द्वारा:— नेमुलर स्प्रूटम (Nammular-sputum) का निर्माण होता है, जो विशेषतया यक्ष्मा रोग में ही बनता है। यदि इसी श्लेष्मा के साथ जल और तरल युक्त कफ का संमिश्रण हो जाय तब यह शनै: शनै: तीन स्तरों में अवतरित हो जाया करता है।

१—नीचे का कफ अधिक गाढ़ा और मध्य का तरल युक्त श्लेष्मा एवं ऊर्ध्वस्तल गाढा चिपका हुआ श्लेष्म युक्त होता है। इस प्रकार का कफ वायु प्रणाली विस्तार रोग में ही मिल सकता है अवशिष्ट कफों की समानता इन्ही के अन्तरगत ही आ जाती है।

रक्तमिश्रित श्लेष्मा

रक्त मिश्रित कफ स्वयं पृथक निकल सकता है। इसमें कभी कभी थोड़े बहुत अंश में शोणित मिल जाया करते हैं, इस शोणितकी सापेक्षता ऊर्ध्व रक्त पित्त नासा रक्तस्राव, आमाशयगत रक्तस्राव, अथवा अन्य मार्ग में शिरागुच्छ हो जाने पर जो रक्त क्षीण होता है उससे करना होता है। इन रोगों में शोणित वर्ण

की तीव्रता एवं घनता निदान में सहायक होती है। कुछ रोगियों में मुखद्वारा रक्तष्ठीवन दो चार दिवस निरन्तर आया करे या जब कभी ऊर्ध्व आन्त्र नलिकाओं से तीव्र शोणित वर्ण का निकले तब उसकी सादृश्यता रक्तपित्त- (malena) रोग से निश्चित रूपेण की जा सकती है। मुख से रक्तष्ठीवन निम्न लिखित फुफ्फुसीय और हृदय संस्थानियों विकृतियों में हो सकता है। फुप्फुसीय राजयक्ष्मा, वायुप्रणाली विस्तार, फुफ्फुसीय वायु अवरोध, फुप्फुसीय घातक अर्बुद, त्रिपत्र कपाटीय संकर्षण और वृहतधमनी विस्तार रोग।

श्लेष्माका स्तर हो जाना (लेंअर फारमेशन)

यदि किसी बड़ी शीशी में अधिक कफ को इकट्ठा कर दिया जाय तो तीन स्तरों में विभक्त हो जाता है १--नीचे का अधिक घन कफ और मध्य भाग का तरल युक्त श्लेष्मा और ऊर्ध्वस्तर घन संसक्त होता है। वास्तव में यह फुप्फुस में निर्जीव गत्वान्क (गेन्ग-रीन) होने पर फुप्फुसीय विद्रधि वायु प्रणाली विस्तार रोग में हुआ करता है।

श्लेष्मा की गन्ध

कभी कभी श्लेष्मा की गन्ध में विशेषताएँ होती हैं। सामान्यतया कफ में स्टेल (Stale) प्रकार की गन्ध आती है, लेकिन फुप्फुस में निर्जीव गत्वान्क होने पर और सपूय कास रोग तथा वायुप्रणाली विस्तार में दुर्गन्ध युक्त तीव्र नासा मार्गको भेदन करने वाली गन्ध आया करती है।

डिट्रिच महोदय का प्लग

यह रचनायें विशेष प्रकार की होती हैं जो कभी कभी श्लेष्मा में मिलती हैं और अल्प अंश में इनसे पृथक निकला करती हैं। यह

आकार में पिन के सिर के समान अथवा कभी कभी सेम के बराबर बढ़ जाती हैं। इनका रंग भूरा और पीला होता है। जब किसी कारण यह विदीर्ण होते हैं तब इनमें पूति दुर्गन्धि आती है। अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा देखने में इसमें ग्रैनुलर डिब्रिज, फैट ग्लौब्लस, फैटीएसिड क्रिस्टलस और जीवाणु पाये जाते हैं। यह रचनायें वायु प्रणाली में बनती हैं और कदाचित् स्वस्थ पुरुष द्वारा श्लेष्मा में उत्सर्गित होती हैं। यह रचना अधिकांश तथा पूतिकास और वायु प्रणाली विस्तार में मिलती हैं। यदि ये रचनाएं अधिक समय तक किसी भी श्लेष्मा में पाई जाती हैं, तब ये राजयक्ष्मा का द्योतक सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार घनश्लैष्मिक रचनायें भी गलसुण्डिका के (क्रिप्स) में बनती हैं। इनका समावेश इसमें ही करते हैं।

फुप्फुसीयाश्मरी (लंग स्टोन)

जीर्ण यक्ष्मा रोगियों में यक्ष्मा तन्तुशोथ और क्षुद्रखटिका ग्रन्थियां श्लेष्मा में पाई जाती हैं। इन्हीं के अधिकांश भाग द्वारा (नीमोलाइथिस) का निर्माण होता है। कदाचित् लघुबाह्यशल्य वस्त्र के टुकड़े एवं बन्दूक की गोलियां और किसी अन्य आघात के कारण ये वस्तुएँ फुप्फुस में कई वर्ष तक रहा करती हैं। अन्त में यही वायु प्रणाली व्रणउत्पन्न करके रक्त मिश्रित श्लेष्मा निकाला करता है।

ब्रोन्किअल कास्ट

यह देखने में वृक्षों की छोटी छोटी शाखाओं के समान वायु प्रणाली के भाग दिखलाई पड़ते हैं। इनकी रचना अल्प मात्रा में फ्रेबिन द्वारा ही होती है। सामान्यतया ये श्वेत और भूरे रंग के होते हैं। यदि इनमें रक्त के कणों का संमिश्रण हो जाय तब इनका वर्ण लाल और भूरा हो जाता है। जिन वायु कोषों में अथवा वायु

स्वस्थ दशा में ब्रोन्कियल कास्ट

चित्र नं० १ पृष्ठ ११

प्रणाली में यह बनते हैं उनका परिमाण उसी के सदृश्यबन जाता है प्रत्येक की लम्बाई १५ सेन्टीमीटर से अधिक ही होती है, परन्तु साधारणतया इनकी लम्बाई कम ही रहा करती है यह गेंद के समान गोल होते हैं अथवा आपस में इकट्ठे फंसे रहा करते हैं और इनको पानी पर तैरता हुआ पहचाना जा सकता है। इसकार्य के लिये काले रंग का क्षेत्र (फील्ड) उपयुक्त होता है, जिसमें रक्त सदृश रचनायें स्पष्ट देखी जा सकें। इनको प्रत्यक्ष और लेन्स द्वारा भी देख सकते हैं यह क्रुप्स निमोनिया सौत्रिक धात्वीयकास (फ्रेब्रेनस) कण्ठरोहिणी आदि रोगों के श्लेष्मा में मिलता है [1]कण्ठ रोहिणी रोग में ये स्वस्थ परिमाण से कुछ बड़े होते हैं। सौत्रिकधात्वीय कास और जीर्ण कास रोग में मध्यम और स्वाभाविक आकारके होते हैं। इनका प्रत्यक्ष ज्ञान उपरोक्त रोगों के निदानार्थ आवश्यक है कुछ रोगों में निरन्तर कई दिवस तक पाये जाते हैं, लेकिन अन्य रोगों में कभी कभी ही क्रुप्स निमोनिया के प्रत्येक रोगी में (कास्ट) श्वसनक ज्वर की उपसमावस्था और रक्त यकृतीय भवनावस्था (हेपेटाइजेशन) में अधिक मिलते हैं। इनदशाओं में ये०.५ से एक सेन्टीमीटर परिमाण में रहते हैं, लेकिन वृक्षों की शाखाओं के समान दिखलाई नहीं पड़ते।

द्वितीय अध्याय

अणुवीक्षण परीक्षण:—माइक्रेसाकोपिक इक्जामिनेशन।

इस परीक्षण में कफ की जांच दो प्रकार से की जाती है कुछ ऐसी होती हैं कि जिनको अरंजित अवस्था में ही देखा जाता है और इनमें कुछ विशेष ऐसी रचनायें हैं कि जिनका ज्ञान रंजित अवस्था में ही हो सकता है। विशेषतया यक्ष्मा के जीवाणु

१. यहां चित्र नं० १ देखें।

का सम्यक् दर्शन विशेष रंजक द्वारा रंजित करने पर ही होता है। एतदर्थ दोनों अवस्थाओं की परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही करनी चाहिये। कभी कभी पूर्व वर्णित रचनाओं को यदि कुछ मिनट तक ध्यान पूर्वक देखा जाय तो परीक्षक का अधिक समय व्यर्थ नहीं होता। श्लेष्म दर्शन करते समय कभी कभी अन्य कण और रोटी के कणों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यदि इनको आइडिन विलियन द्वारा रंजित किया जाय तब यह नीलवर्ण द्वारा पहचाने जा सकते हैं।

अरंजित श्लेष्मपरीक्षण

प्रत्येक प्रकार के कफ परीक्षण में इस अवस्था का विशेष ध्यान रखना चाहिये। अधिकांशतया परीक्षक इस परीक्षा का अधिक महत्व नहीं दिया करते हैं। कुछ विशेष ऐसी रचनायें हैं कि जिनका ज्ञान रंजन विधि द्वारा न हो कर इस विधि द्वारा स्पष्ट हो जाता है, अन्य जो रचनायें उपस्थित रहती हैं उनका साधारण परिज्ञान इसमें होता है। यथा पूय कण ईसनोफिल, इपीथीलिरअल सैल रक्त आदि और यक्ष्मजीवाणु के विशिष्ट भागों का ज्ञान इन्हीं में ही होता है। जिस श्लेष्मा के भाग की परीक्षा करनी हो, उसको स्वच्छ और शुद्ध कांच पट्टिका पर रखकर उस कफ के ऊपर कांच पट्टि आवरक (कवर ग्लास) से ढक देना चाहिये। तदुपरान्त १६ मिलीमीटर उपनेत्र अथवा चार मिली मीटर द्वारा भी देख सकते हैं। इस कार्य के लिये आयल-इमरसन लेन्स का कभी भी उपयोग नहीं करना चाहिये। सामान्य विधि यह है कि कफ के किसी भी घन भाग को शुद्ध और कृमि-विहीन पतली कास्ट द्वारा अथवा रुई की काड़ी द्वारा कांच पट्टिका पर रख देना चाहिये और जो अवशिष्ट कफ है उसको अग्नि द्वारा जलाकर नष्ट करदे जिससे उपसर्ग का भय न हो। कुछ

परीक्षक श्लेष्मा को कांच पट्टि पर रखने के लिये प्लाटिनम का तार व्यवहार करते हैं, परन्तु जीवाणु दर्शनार्थ कदापि ऐसा नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस कार्य को पूर्णतया सम्भालने के लिये किंचित अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। जिस कफ के टुकड़े की परीक्षा करनी होती है उसे प्रथम शुद्ध कास्ट द्वारा उसके सूत्र को पृथक कर ले तत्पश्चात् किसी भी इच्छित श्लेष्म घन भाग को कांच पट्टिका पर रखकर सम्यक् दर्शन करना चाहिये। कांच पट्टि को श्लेष्म समूह में कभी नहीं डालना चाहिये और यह भी ध्यान रक्खे कि श्लेष्मा को फैलाते समय एक भी कण कांच पट्टिका के किनारे पर न लगने पावे। इस दशा में निम्न रचनायें दर्शनीय हैं

१—सौत्रिक धातुवीय सूत्रः—इलास्टिक फाइब्रस

२—कुसमैन महोदय का वक्राणुः—कुसमैन स्पैरल

३—सार्कक्टलेडन क्रस्टल ४—पिगमन्टेड सैल—कौषाणु ५—माइलिन ग्लोब्यूल्स ६—एक्टनोमाइसिस होमिनेसः—रेफेन्गस (फफुन्द) ७—मोल्डस एन्ड ईस्ट ८—एनीमल पेरासाइड्सः—जान्तव पराश्रयी। इनरचनाओं के साथ ही साथ पृष्ठ क्षेत्र मेंः—वैकफील्डः—(Back-Field) में पूय कण एवं श्लेष्मीय घन भाग और पिच्छलता अधिक रहती है। इसकी समानता जेली नामक वस्तु से की जा सकती है। सामान्यतया पूय कण देखने में भूरे पीले और स्पष्ट होते हैं। लम्बाई लगभग १० से १२ यू (u) व्यास होती है। इनका केन्द्र सामान्यतया स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ना। ऐसी दशामें विशेष रंजक द्वारा रंजित कर प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिय।

सौत्रिक धातुवीय सूत्र

ये सूत्र फुप्फुसीय अंग के हुआ करते हैं, जो वायु प्रणाली वायु कोष एवं तत्सम्बन्धित रक्त नलिकाओं से दीवालों में उपस्थित

रहते हैं जब कभी ये श्लेष्मा में पाये जाते हैं तब यह समझना चाहिये कि फुप्फुस के कोषाणु का विनाश हो रहा है या उनमें कोई विकृति उत्पन्न हो गई है। यह सूत्र भोजन के साथ नहीं आते हैं। सामान्यतया इन सूत्रों की उपस्थिति से फुप्फुसीय विद्रधि और फूफ्फुसीय निर्जीवगत्वान्क (गेन्गरीन) का निर्देश होता है। परन्तु अधिकांश इन्हीं सूत्रों की विद्यमान्ता यक्ष्मा का ही द्योतक है। अतिवर्धित यक्ष्मा रोग में इनकी संख्या अधिक पाई जाती है। यद्यपि ये अति हीन किसी किसी यक्ष्मारोगियों में दिखलाई पड़ जाया करती हैं। इस अवस्था में यक्ष्मकीटाणु का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इन सूत्रों का अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा पूर्णतया ज्ञान हो जाने से यही आभास होता है कि फुप्फुस में विकृति किस गति द्वारा हो रही है और फुप्फुसीय निर्जीवगत्वान्क होने पर तान्तव धातु अधिक मात्रा में सम्भवतः उपस्थित रहते हैं। इन्हीं तान्तव धातुओं का सम्यक दर्शन सावधानी से किया जाना चाहिये। जो धातु सड़ गये हैं उनके क्षुद्र कणों का रंग हरित, पीत और मंडूरवर्ण सदृश होता है। ये अल्प काल के लिये ही दृष्टि गोचर होते हैं। यदि ये नहीं दृश्यमान हों तब श्लेष्मा के सपूय घन भाग को ग्रहण कर देखना चाहिये। श्लेष्मा के परीक्ष्य कण को कांच पट्टिका पर रखकर और कांच आवरक द्वारा दबाकर परीक्षा करे, जब तक कि वह शुष्क न हो इच्छित श्लेष्मांश की परीक्षा करना श्रेयस्कर होता है। यद्यपि अन्यलोग १० प्रतिशत शक्ति कास्टिक सोडा मिलाकर क्वथन करते हैं। तद् उपरान्त परिभ्रामक यन्त्र (सेन्ट्रीफयूगल मशीन) द्वारा घुमा कर परीक्षा करने का आदेश देते हैं। इन सूत्रों के दर्शनार्थ १६ मिलिमीटर शक्ति का उपनेत्र या इससे अधिक शक्ति का व्यवहार करना चाहिये। जिसके पहचानने में सुगमता होती है। यह सूत्र देखने में लम्बे पतले अधिक

राजयक्ष्मा कफ में सौत्रिक धात्वीय सूत्र अरंजित
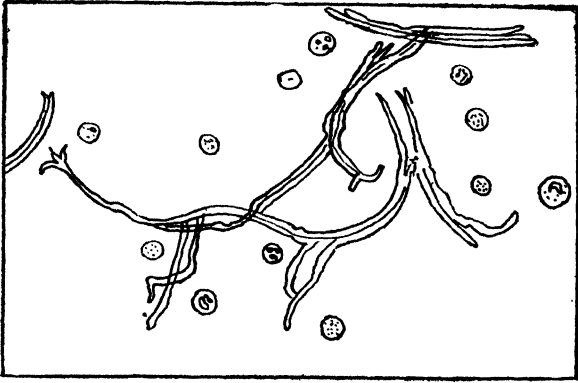
चित्र नं० २ पृष्ठ १५

रैफ्रेक्टीव (Refractive) मुड़े हुए और उनका (Spilts) अन्त होता है। नूतन कफ का स्वरूप देखने में चमकदार वक्र, तीव्र, बेन्डस् (Bends) और उनका व्यास समान ही होता है और उनमें चिकना-हट भी होती है। जीर्ण श्लेष्मा में खुरदरा पन होता है यानी रूक्षता होती है। इनकी रचना सामान्यतया वायु कोषों के सदृश रहती है जिससे फुफ्फुस की वायु कोषों की रूप रेखाका रक्षण होता है। यह प्रबन्ध यह आभास कराता है कि फुफ्फुस में इनकी उत्पत्ति सक्रिय रूप से हो रही है। लेप्टोट्राकिया वककलिस जो कि साधा-रण मुख में ही होता ह यदि इनको न्यून शक्ति के उपनेत्र :— (Lowpower) द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन किया जाये तब सौत्विक धात्वीय-सूत्रों से भ्रम हो सकता है। [1]इसको चारमिलीमीटर उपनेत्र द्वारा सुगमता से पहचान सकते हैं, संशयात्मक अवस्थाओं में आईडीन विलियन (आईडीन २. ० ग्राम पुटासियम आयोडाइड ३.० ग्राम और शुद्ध परिश्रुत जल ३०० शी. शी.)—द्वारा परीक्षण करना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण प्रकार के लेंप्टोथाइरेक्स कीटाणु आईडिन में मिश्रित करने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होने देते। ये जीवाणु अधि-कांश मुख में ही पाये जाते हैं। इन में से लेक्टोट्राकिया वेकेलिस नामक कीटाणु दांतों के टारटर और गलशुण्डिका के:—टौंशिल्स के (Crept) क्रप्ट में ही पाया जाता है। फेरेनो माइकोशिष लेंप्टो थ्राइकस के श्वेत धब्बे अधिकांशतया इन्हीं तन्तुपुच्छिओं के बने होते हैं। ये लम्बे पतले सूत्र जो कि सामान्यतया ल्यूंगोल्स और स्टेनवाइलेट द्वारा रंजित करलेने पर एवं ४ मिलिमीटर उपनेत्र द्वारा देखने में सुगमता से पहचाने जाते हैं। कभी कभी जब से जीमेन्ट्स (Segements) के पृथक हो जाने पर ये उस समय (ननमोटाइल-विसलाइल) के सदृश दिखलाई पड़ते हैं। समय पर यही श्लेष्मा आमा-

---

१. यहाँ चित्र नं० दो देखें।

शयिक द्रव्य में पाये जाते हैं। इन दोनों के विनिश्चयार्थ आईडीन विलियन डालने से जो प्रतिक्रिया होती है वह सहायक होती है। वसाम्ल के कण जो डिट्रिच महोदय के प्लग और श्लेष्मा में पाये जाते हैं। ये शरीर में पड़े रहा करते हैं जब ये लम्बे हो जाते हैं तब ये सौत्रिक धातुवत अधिकतया वक्र और सीधी सूचिका वत होते हैं। जब इन पर कांच आवरक दबाव पूर्वक रक्खा जाता है या जब कांच पट्टिका को गरम किया जाय तब इनको यदि देखाजाय तो शिरा गुच्छ के समान प्रतीत होते हैं और तरलरूप में बिन्दु बिन्दु कर द्रवी भूत होने लग जाते हैं। विद्यार्थियों को उपरोक्त रचनाओं से भ्रम उत्पादक निम्न रचनाएं हुआ करती हैं। रूई के सूत्र जो कि वायु के सम्पर्कद्वारा आ जाते हैं एलास्टिक सूत्रों की अपेक्षा खुर्दरे चपटे और दो एक स्थानों से वक्र होते हैं और लम्बी लम्बी धारियां रहा करती हैं और इनका अन्तिम स्थान फ्रेड (Frayed) के समान रहता है रंग में भी थोड़ा बहुत बदला करता है। रूई के सूत्रों की अपेक्षा एलास्टिक सूत्र कुछ हलका पीला रंग होता है यदि अणुवीक्षण यन्त्र के डाइफ्राम को शनैः शनैः खोला जाय तो एलास्टिकधातु के सूत्र अधिक समय प्रतीत हो सकते हैं। यदि थोड़ा सा प्रतिबिम्ब में अन्तर कर दिया जाय तब श्लैष्मिक सूत्र गायब हो जाते हैं। उस समय केवल रूई के सूत्र ही दृष्टिगत हो सकते हैं। रंजित दशा में विद्यार्थी प्रायः अवक्षिप्त श्लैष्मिक सूत्रों को ही एलास्टिक सूत्र कह दिया करते हैं। भोजन से जो एलास्टिक सूत्र पाये जाते हैं वे साधारणतया रूक्ष अति दृश्य कुछ कम पतले और एक समान वायु कोषवत् दिखाई नहीं पड़ते हैं।

क्रिसमेन्स महोदय का चक्र:-(Crushmans-spirall) क्रसमैन स्पेरल :—

इस प्रकार की अद्‌भुत रचनायें अधिकतया वायुप्रणाली तमक श्वास रोग में ही मिलती हैं।[1] जो कि इस रोग का स्पष्ट द्योतक है। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक आक्रमण में ही पाये जावें सम्भवतः किसी भी समय में मिल जाते हैं। कदाचित् ये आक्रमण के समाप्त होते होते ही मिल जाते हैं। ये रचनायें अकस्मात् जीर्ण कास रोग में पाई जाती हैं। इनके रहने से रोगी को सदैव श्वास रोग होने की प्रवृत्ति रहा करती है, इनके स्वरूप का कोई निश्चय नहीं होता है। अणुवीक्षण यंत्रद्वारा प्रत्यक्ष दर्शन करने पर ये श्वेत और पीत वर्ण की वस्तु के सूत्र–सदृश लम्बे और कभी कभी छोटे छोटे बाल के सदृश आपस में संलग्न रहते हैं। सामान्यतया इनकी लम्बाई १.५ सेन्टीमीटर से लेकर ५ सेन्टीमीटर तक रहती है। कभी कभी ये नग्न दृष्टि द्वारा भी पहचाने जा सकते हैं। यदि इनको १६ मिलीमीटर उपनेत्र द्वारा देखा जाय तब यही रचना श्लैष्मिक सूत्रों के आकार रंगहीन चमकदार और मध्यरेखा प्रतीत होती है। इसके चारों ओर बारीक बारीक सूत्रों का घेरा रहा करता है। वास्तविक दृष्टिकेन्द्र से तनिक ऊपर उपनेत्र द्वारा देखा जाय, तब चमकीली मध्यरेखा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। कभी कभी गहरे रंग का धागा और सूत्रवत् रचना भी दिखलाई पड़ा करती है। चक्राकार सूत्र कभी शिथिल और कभी कभी बँधेहुये मालूम पड़ते हैं। इनमें कभी कभी ईश्नोफ़िल और कभी कभी सार्कट लेडन के कण मिला करते हैं इनके साथ ही श्वेत कण भी श्लेष्मीय स्तरों में मिलते हैं और मध्य सूत्र अनुपस्थित रहता है।

Charcot-leyden crystal—सार्कट लेडिन के कण–जब श्लेष्मा को रोगी बाहर थूकता है तब यह कण नहीं मिलते हैं।

---

१. यहाँ चित्र नं० १ देखें।

जब यही श्लेष्मा अधिक समय रक्खा रहा करता है तब इसमें अधिक संख्या में कण पाये जाते हैं। कभी कभी ये अल्परूप में श्वास प्रणालीय श्वास रोग में मिला करते हैं उस समय इन रचनाओं का इनको एक गौण कारण माना जाता था, इनके प्रकृति का कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता। निर्माण केवल ईस्नोफिल कोषाणु द्वारा ही होता है। श्लेष्मा के बाहर ये मल में मिलते हैं। इनके सम्पर्क में उस समय जान्तव पराश्रयी रहा करते हैं और श्वेतकणमयता होने पर स्कन्दित शोणित में पाये जा सकते हैं। ये वर्ण हीन नोकीले और सूचीवत् दिखलाई पड़ते हैं। भूतपूर्व इनको विभाजित करने पर इनका वर्णन ऑक्टेहेड्रल (octahedral) के समान करते हैं, परन्तु आधुनिक समय में ये हेक्जागोना (Hexogena) के नाम से बोधित किये जाते हैं। इनका व्यास रक्त कण के व्यास से तिगुना और चौगुनी लम्बाई होती है।

अन्यकण

हेमटोडीन २—क्लोस्ट्रोल तथा वासाम्ल के सूचिका वत् कण जो सामान्यतया श्लेष्मा में फुप्फुसीय विद्रधि और वायुप्रणाली विस्तार रोग होने पर शरीर में अधिक समय तक उपस्थित रहते हैं, वसाम्ल के कण नियमित रूप से डिटरिच प्लग में पाये जाते हैं। कभी कभी इन रचनाओं को (एलास्टिक फाइवर्स) से भ्रम हो जाता है। कभीकभी इसके ही पृथक् पृथक् कण गोल समूह बना लेते हैं और यही रचना बिलकुल एक्टनो माइसिस होमेनिस के समूहवत् प्रतीत होती है।

PIGMENTED CELLS—पिगमेंटेड सेल्स—पिगमेंटेड कोषाणु

इनके ग्रेनुअल्स या कण कभी कभी साधारण पूय कण में दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु यही कोषाणु बृहत बहुकेन्द्रीय कोषाणुओं के सदृश

सारकेट लेडन के कफ तथा श्वेत कण

चित्र नं० ४ पृष्ठ १९

प्रतीत होते हैं और इनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ संशय उत्पन्न हुआ करता है[1]। पहले इन रचनाओं को परीक्षक लोग चपटे इपीथीलिअल कोषाणु समझते थे, जो कि फुफ्फुसीय वायुकोषों को बना देते हैं। इनको सामान्यतया एन्डोथेलिअललिकोसोइट्स (Endothelial) से पहचानना पड़ता है सामान्यतया दो ही प्रकार के कोषाणुओं का वर्णन करना आवश्यक है। १–पहले वो हैं जिनमें कि ब्लड पिग्मेंन्ट या रक्त के धब्बे पाये जाते हैं, मुख्यतया इन्हें हेमोसाइड्रिन (Haemosidrin) कहते हैं। २–दूसरे वो होते हैं जिनमें कि कार्वन पाया जाता है। इन कोषाणुओं में खुर्दरे कण रहते हैं जो कि छोटे छोटे अनेक वर्ण हीन माइलिन ग्लोब्यूल्स के विद्यमानता के कारण पाये जाते हैं। जिनमें ब्लड् पिगमेन्ट पाया जाता है या रक्त के धब्बे उनको हृदय स्तब्धता जन्य कोषाणु (हार्टफेलर सेल्स) नाम दिया गया है। उसका कारण यह है कि हृदय रोगों में हृदय-कार्य का समतुलन उचित रूपेण न होने से फुप्फुस निष्क्रिय होकर रक्ताधिकता–उत्पन्न करते हैं, जिससे कोष इनमें मिला करते हैं। यदि यही कोष अधिक संख्या में मिल जायें तब जीर्ण कास रोग की संप्राप्ति और विकृति का निश्चिती करण हो जाता है। कभी कभी इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ जाती है कि श्लेष्मा का वर्ण भूरा हो जाता है। ऐसे कोष प्रायः फुप्फुस धमनीजन्य कोथः–(पलमोनरी इनफौयरेक्शन) रोग में अथवा फुप्फुस से अधिक रक्तश्राव होने पर मिलते हैं। प्रातः कालान अरंजित श्लेष्मपरीक्षण करते समय हृदय स्तब्धता जन्य कोष की रचना निम्न प्रकार दिखलाई पड़ती है–यह आकार में अंडाकार और कुछ भूरे वर्णविहीन और इनका केन्द्र विभिन्न व्यास का एवं कण गोलाकार होते हैं और

---

१. यहाँ चित्र नं० ४ देखें।

उनका रंग पीला और भूरा होता है। कभी कभी ये धब्बे ऐसे आभासित होते हैं मानों अधिक गाढा रंजन हो गया हो। केन्द्र धब्बों से पृथक रहता है। कोष बड़े बड़े व्यास में लगभग ३५ u रहते हैं।

विद्यार्थियों को भूरे रंग के धब्बे के स्वभाव को पहचानने के लिये पहले श्लेष्मा को कुछ मिनट के लिये १० प्रतिशत शक्ति के पोटाशियमफेरो साइनाट में रंजन कर बाद में तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड लगाना चाहिये, जिनमें लौह धब्बे होंगे उनका वर्ण नीला हो जायगा। बहुत से कण रंग ग्रहण नहीं कर पाते हैं, ऐसी परीक्षा में शुष्क और आर्द्र दोनों प्रलेप कर सकते हैं[1]।

कारबन लेडिन के कोषाणु—
(CARBON LADEN CELLS)

इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है, ये कोषाणु विशेषतया (एन्थ्रा कौ शिष) रोगियों के श्लेष्मा में अधिकांश रूप में रहा करते हैं, जिनमें कृष्ण वर्ण के कोणाकार ग्रेनुअल्स कोषाणुओं के तथा बाह्य दोनों स्थानों में श्लेष्मा के रंजनार्थ मिला करते हैं। इसी प्रकार के अन्य कारबन के कोषाणु–कण प्रातः कालीन ष्ठीवन में बहुतायत से रहते हैं। उन पुरुषों के श्लेष्मा में जो कि धूम्रपान को बाहर न निकाल कर अन्दर ही निगल जाया करते हैं, उन व्यक्तिओं में ही पाया जाता है। अथवा जो धूम्र के निकटवर्ती वायुमंडल में निवास करते हैं, यथा इन्जिन, कारखाने के समीप रहने वाले व्यक्ति।

माइलिन ग्लोब्यूल्स—MYLIEN GLOBULES

इनकी रचना की थोड़ी बहुत सादृश्यता (ब्लास्टोमाइसेस्) से की जा सकती है। इस कारण निदानार्थ कुछ न कुछ स्पष्ट चिह्नों का ज्ञान होना अनिवार्य ही है। ये रंगहीन गोल और अण्डाकार

---

1. यहाँ चित्र नं० ९ देखें।

माइलिन ग्लोब्यूल्स एक प्रातः कालीन श्लेष्माका
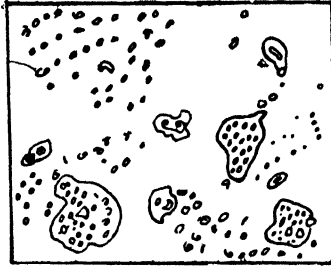
चित्र नं० ५ पृष्ठ २०

नासपाती के समान विभिन्न परिमाण के दिखाई पड़ा करते हैं। ये बिल्कुल वसाकणवत् ही दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं के बृहत्कण एक विचित्र प्रकार के प्रतीत होते हैं, जो कि कभी कभी विषमप्रकारीय चक्रवत् मालूम होते हैं। ऐसे ग्लोब्यूल्स किसी भी स्वस्थ पुरुष के प्रातःकालीन उत्सर्गित ष्ठीवन में अल्पमात्रा में मिल सकते हैं और श्लेष्म युक्त कफ में भी मिल जाया करते हैं, ये दोनों रोगियों के श्लेष्मा में स्वतन्त्र रूप से रहा करते हैं। इनका कोषाणु आकार में लम्बा होता है, जिनको इसके पूर्व "वायु कोषीय कोषाणु" कहा जाता था, परन्तु यह इण्डोथेलिअल लिकोसाइट्स ही होते हैं। अन्तः, कोषाणु के ग्लोब्यूल्स प्रायः छोटे होते हैं, परन्तु जब ये आपस में मिले रहते हैं, उस दशा में कोषाणु पीतवर्ण का मालूम पड़ता है। जिनसे हृदय स्तब्धता जन्य कोषाणु का भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

ACTINOMYSIS HOMINUS-एक्टनोमाइसिस होमेनिस :— रेफन्गस्

यह रचना पलमोनरी एक्टनोमाइसिस रोगियों के श्लेष्मा में या एक्टनी माइकोटिक लेसन होने से पूय पैदा होने के कारण जो छोटी-छोटी भूरे और पीले रंग की साबूदाने के समान कणों से पृथक की जा सकती है, इनको ही रेफेन्गस (Ray-Fungus) समझना चाहिये। इनका ज्ञान विना अणुवीक्ष्य परीक्षा द्वारा नहीं हो सकता है। यदि इनको मन्द शक्ति के या (Low-Power) उपनेत्र द्वारा देखाजाय तब ये फन्गस एक दूसरे कणों को तोड़ते हुए मालूम पड़ेंगे। एक्टनोमाइसेस होमिनेस की रचना बिल्कुल एक्टनोमाइसिस वोविस के समान रहती है। ये रचनाएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो धागों का जाल सा बन गया हो, पुरुष और जन्तुओं की इन रचनाओं में केवल इतना अन्तर है कि जन्तुओं में ये ग्रन्थिमय और शाखाओं में मिलते हैं। इनको

अधिक स्पष्ट करने के लिये एलकोहल युक्त इयोसिन और ग्लसरीन कांच पट्टिका में डाल दिया जाता है, इससे यही कीटाणु जीवाणुओं के मध्य में स्थिर हो जाता है और इसकी समानता (ट्राइकोमाइसिटिस) से या अन्य किसी कीटाणु से हो सकती है। इनको केवल ग्राम्स मेथड द्वारा ही रंजित किया जा सकता है। फुप्फुसीय एक्टोमाइकोसिस बहुत कम होता है। निदान की दृष्टि से ये रचनायें यक्ष्मा का द्योतक होती हैं।

मोल्ड आर ईस्ट—MOLDS OR YEAST

पृथक पृथक के मोल्स के त्रिणांणु और (Hyphae) या शाखायुक्तसूत्र कभी कभी रोगी के कफ में निश्चित रहा करते हैं। सामान्यतया शाखासूत्र देखने पर लम्बे छड़ के सदृश एक साथ मिले हुए या शाखाओं में विभक्त रहा करते हैं और देखने में प्राय: (Mesh-work) के समान दिखलाई पड़ते हैं। इनमें त्रिणांणु अधिक (रिफ्रेक्टिव) गोलाकार और अंडाकार होते हैं, सामान्य रंजन द्वारा दोनों रंजित किये जा सकते हैं। कफ में मोल्ड के उपस्थित होने के कारण (Contamination) का होना प्रतीत होता है। कभी कभी यही फुप्फुसीय विवर में पूय उत्पादन होने से पूय कणों में चाहे वह यक्ष्मीय विवर हों या अन्य किसी कारण जन्य हों तो संक्रमण प्राय: किसी किसी रोगियों के फुप्फुस में होता है। इसको (नीमोसाइकोषिश) कहते हैं। इनके चिह्न राजयक्ष्मा के समान ही पाये जाते हैं, लेकिन इनका कारण (एपरजिलसफ्यूमीगेटस) नामक कीटाणु होता है।

PULMONARY BLASTOMYCOSIS—
पल्मोनरी ब्लास्टोमाइकोशिष

यह रोग की अधिकांश अवस्थाओं में विशेष प्रकार का खमीर

श्लेष्मा में मिलावट करता है तन्तुओं में एवं धातुओं में ये (वडिंग) या कुड्मली भवन के समान वृद्धि करते हैं और इनका वडिंग कफ में होने से ब्लास्टोमाइसिस रोग का निदान होने में सहायता मिलती है। दोनों जीवाणुओं को पहचानने के लिये १० प्रतिशत कास्टिक सोडा डाल कर परीक्षण करना चाहिये, दोनों का ज्ञान रंजित विधि द्वारा हो होना चाहिये, लेकिन जीवाणुओं को वर्धन करने से पूर्णतया ज्ञान होता है।

ANIMAL PARASITE--जान्तव पराश्रयी :—
एनीमल पेरासाइट्स

ये पराश्रयी भारतीय रोगियों के श्लेष्मा में बहुत कम पाये जाते हैं। एक त्रिकोणाकार पराश्रयी जिसका सादृश्य ट्राइकोमेनस होमिनस से हो सकता है, यह सपूय कास और फुप्फुसीय कोथ रोग होने पर उपस्थित रहा करता है। जापान आदि विदेशों में फुप्फुस में संक्रमण प्राय :—म्यफल्यूकवार्म या कृमि के कारण होता है। कभी कभी किसी दशा में यह भी देखा गया है कि यकृतीय विद्रधि के विदीर्ण होने से उससे निकला हुआ पूय यदि फुप्फुस में प्रविष्ट हो गया हो तब उस समय एण्डीएमीबा हिस्टोलिटिका नामक जीवाणु पाया गया है। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में होगा।

तृतीय अध्याय

रंजित श्लेष्मपरीक्षण

रोगी के श्लेष्मा को रंजित कर लेनें पर उसमें प्रधानतया कोषाणु और जीवाणु का सम्यक् ज्ञान किया जाता है। कफ की जाँच करने के लिये उनको कई एक काँच पट्टिकाओं पर प्रलेपित किया जाता है, प्रलेप सामान्यतया अधिक मोटा न होना चाहिये

जहाँ तक हो सके पतला प्रलेप ही निर्माण करना चाहिये। यह अभ्यास विकृति विज्ञान प्रयोगशाला में कार्य करने से अच्छा हो सकता है, इससे कठिनाई नहीं होने पाती। यदि उचित रूपेण कार्य किया जावे तो स्मेअर या प्रलेप ठीक और सही बन जाता है। इसके उपरान्त वायु में उन प्रलेपों को शुष्क कर लिया जाता है। इसके बाद स्पिरिट या माचिस जलाकर थोड़ी सी आँच दे देना चाहिये, जिससे प्रलेप स्थिर हो जाये। यदि ये उपलब्ध न हों तब उस समय केवल शुद्ध काष्ट एलकोहल या (उडएलकोहल) में या एक प्रतिशत शक्ति के करसिव सप्लीमेट विलयन में एक मिनट से दो मिनट तक उसमें रखकर या डुबो कर उसके बाद अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करनी चाहिये।

प्रत्येक प्रलेपित स्मेअर को अग्नि द्वारा स्थिर करने से साधारणतया जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। दूसरा लाभ यह है कि जिस स्मेअर का विशोधन नहीं हुआ है उसका विशोधन कर्म हो जाया करता है। इससे परीक्षक को किसी प्रकार का उपसर्ग होने का भय नहीं रहा करता। सामान्यतया यक्ष्मीय कीटाणुओं का सम्यग् परिज्ञान करने के लिये प्रलेप को पृथक् पृथक् ग्राम्स विधि एवं अन्य यक्ष्मीय रंजक द्वारा रंजित करे :—परीक्षा करने में उपस्थित जीवाणु तथा कोषाणुओं का कुछ विशेष ज्ञान हो जाता है, जिससे अग्रिम परीक्षाएँ करने में सहायता मिला करती है।

अणुवीक्षण कीटाणु

कुछ परोपजीवी कीटाणु ऐसे देखे जाते हैं जो कि मुख से निकलने वाले श्राव में उपस्थित रहते हैं और कभी कभी नूतन परीक्षकों को भ्रम में डाल दिया करते हैं। यदि उनके समीप (एक्वेमस सेल्स) रहें तो स्पष्ट हो जाता है। कि ये किन स्थानों से आये हैं इनमें निम्न कीटाणु विकारी कहे जाते हैं—— १—यक्ष्मकीटाणु:— टयूबर्किल

विसलाई २–स्टेफलो कोकाई ३–स्टेप्ट्रो कोकाई ४–नीमोकोकाई ५–फ्रीडलेण्डर का कीटाणु ६–इन्फुलेन्जा का कीटाणु ७–प्रतिश्याय का जीवाणु या (मेक्रोकोकसक्रेटेलिरिलिस) इन सम्पूर्ण जीवाणु में केवल यक्ष्मकीटाणु का ही विशेष वर्णन किया जावेगा।

यक्ष्मकीटाणु :– मायोबेक्टेरियम टुबरक्लोसिस

यक्ष्मकीटाणुओं का रोगी के श्लेष्मा में उपस्थित होना यक्ष्मा रोग का पूर्ण द्योतक होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उपसर्ग श्वासप्रणाली में है या फुप्फुस में है। परीक्षा करने पर यदि जीवाणु काँच पट्टिका पर एक या दो दिखलाई पड़े तब पुनः अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षण करके निश्चित निदान करना चाहिये। क्योंकि यह संशय रह सकता है कि पूर्व की गई परीक्षाओं में काँच-पट्टिका पूर्णतया स्वच्छ न हो सकी हो और उसमें एकाध जीवाणु संसक्त हो गया हो या धूलि आदि के सम्पर्क द्वारा आ गया हो, जिससे किसी अन्य अम्लसाही जीवाणु का भ्रम हो सकता है।

सामान्यतया परीक्षा के लिये रोगी के दुर्गन्धित एवं घन श्लेष्म भाग को संन्दन्स यंत्र द्वारा पकड़कर उसमें से श्लेष्मीय भाग को विभिन्न कर काँचपट्टिका पर रखना चाहिये। यदि कोई अंश उससे भी अधिक दुर्गन्धित हो तो उसको भी परीक्षार्थ ग्रहण कर लेना चाहिये। कारण यह है कि इस भाग में यक्ष्मकीटाणु अधिक संख्या में पाये जाते हैं परीक्षकों को इस ओर अपना ध्यान रखना चाहिये कि भोजन के कण भी बिल्कुल जीवाणु के समान होते हैं, कहीं पह-चानने में भ्रम न हो जाय। यक्ष्मकीटाणुओं की सामान्य पहचान यह है कि प्रथम वें कठिनता से रंग ग्रहण करते हैं, यदि रंग ग्रहण करते हैं तो रंग अधिक गाढ़ा और तीव्र रंजित होता है। यदि यक्ष्म-कीटाणु नहीं होंगे तब उन्हे किसी भी खनिजाम्ल में डाल दिया

जाये तो रंग साफ हो जायगा, परन्तु यक्ष्मकीटाणु उपस्थित रहने पर ऐसा नहीं होता है। यह अम्लसाही गुण इन कीटाणुओं में वैक्सी और लिपाइड नामक पदार्थ उपस्थित होने के कारण पाया जाता है। इस प्रकरण में यक्ष्मकीटाणु पहचानने के लिये विभिन्न रंजको का वर्णन किया जा रहा है—सामान्यतया वैद्य समुदाय में गेबट्स विधि गेवट्स स्टेन और लोफलर्स स्टेन एवं झीलनेलसेन विधिका अधिक अवलम्बन किया जाता है।

रंजन विधियाँ--स्टेनिंग मेथड्स्

१—गेवट्स महोदय की रंजन विधि—(Gabbates-stain)

अ—रोगी के कफ को प्रथम घनभाग को थोड़ा अग्नि पर गरम करले फिर कांचपट्टिका अवरक के ऊपर एक समान पतला स्तर फैला देना चाहिये। यदि कफ को गरम न किया जाय तब भी उसमें से घन अंश को कांचपट्टिका पर फैला दें। इन कार्यों को करते समय कांचपट्टिका को संन्दन्स यंत्रद्वारा पकड़ना चाहिये इसके लिये कांचपट्टिका संन्दन्स का व्यवहार करना चाहिये। कांच-पट्टिका अवरक को कभी भी किनारों के निकट नहीं रखना चाहिये अन्यथा रंजन भली प्रकार स्थिर नहीं रह सकेगा।

व—जो प्रलेप तैयार हो गया है उसे वायु में कुछ समय रख कर शुष्क कर लेना चाहिये।

स—इसके बाद उसी कांचपट्टिकावाले प्रलेप को (फिलम) एक प्रतिशत शक्ति के कोरोजिव सब्लीमेट जलीय विलियन अथवा मिथाइल एलकोहाल में दो से तीन मिनट तक डूबे रखना चाहियें, तदुपरान्त जल द्वारा अच्छी तरह स्वच्छ कर ले। ये पद्धति नूतन अभ्यास करनेवाले विद्यार्थियों के लिये अधिक श्रेयस्कर है। वैसे सामान्यतया प्रत्येक परीक्षक अग्नि द्वारा किंचित् ताप दिखाकर प्रलेप को स्थिर कर लेते हैं।

क—आवश्यकतानुसार जितना अधिक से अधिक हो सके कार्बोलफकशिचन (Carbol-Fuschin) नामक रंजन को प्रलेपित करना चाहिये । इससे वह कुछ समय के लिये स्थिर हो जायगा । इसके बाद उस प्रलेपित कांचपट्टिका को कुछ क्षण के लिये अग्नि द्वारा ताप देना चाहिये । जिससे उसमें से दो तीन मिनट या इससे अधिक समय तक बाष्प यानी स्टीम निकलते रहेंगे । जब पूर्णतया बाष्प निकल जाय तब दुबारा कार्बोलफकशिचन को ड्रापर द्वारा डालना चाहिये । यदि रंजन को पूर्णरूपेण बाष्पीभवन होने दिया जाय तब जो प्रलेप निर्माण किया गया है, वह नष्ट हुआ समझना चाहिये । यदि इस पद्धति द्वारा यक्ष्मकीटाणुओं का रंजन हो भी जाय तो फिर कुछ काल बाद उसके नष्ट हो जाने का भय रहता है । यदि अग्नि द्वारा अधिक तीव्र उष्णता दे दी जाती है, तब कीटाणुओं के रंजन में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है । सम्भवतः ऐसा होता है कि उसमें रहनेवाला वैक्सी (Waxy) अंश नष्ट हो जाता है, जिस पर कि अम्लसाही या (Acid-Fast) पदार्थ निर्भर करते हैं । ऐसे समय पर परीक्षकों को हमेशा कई एक कांचपट्टिकाओं पर श्लेष्म प्रलेप निर्माण कर लेना चाहिये और उनको एक ट्रिपाइड या किसी दो इन्च के समानान्तर रेक में जिनमें कि छड़ लगे हों रख देना चाहिये । साधारणतया प्रत्यक्ष अभ्यास करने से यही सिद्ध होता है कि रंजन कार्य में २० से ३० मिनट तक लग जाया करते हैं । और कांचपट्टिकाओं को रंजन जार-में डुबो कर करना चाहिये । किसी किसी दशाओं में केवल कार्बोलफकशिचन को ५ मिनट तक रंजन करने तक कार्य सिद्ध हो जाता है ।

ख—प्रलेप को अब जल द्वारा शुष्क कर लेना चाहिये ।

ग—इस समय गैवेट्स रंजन कांचपट्टिका अवरक के निचले

भाग पर लगा देना चाहिये, जिससे कार्वोलफकश्चिन जो कि अधिक लग जाता है वह दूर हो जाये और बाद में प्रलेप की ओर लगावे। इस प्रकार–घ–चौथाई से एक मिनट तक इसी अवस्था में पड़ा रहने दे, तदुपरान्त जल द्वारा प्रक्षालित कर लेना चाहिये।

ङ—इतना कार्य करने पर भी यदि अब भी श्लेष्म के पतले भाग का रंग नीला हो तब उस अवस्था पर अगली पद्धतियों को कार्य रूप में परिणत करना चाहिये। यदि अब भी प्रलेप का रंग लाल हो तब–ग–और घ–विधियों को पुनः कार्य रूप में लाना चाहिये, जब तक कि लाल रंग दूर न हो जाय। अधिक काल तक गेवट्स सिस्टम द्वारा रंजन करते रहने से यक्ष्मकीटाणु का रंग (डिक्लौ राइज) नष्ट हो जाया करते हैं।

च—इस समय बने हुये प्रलेप को निष्यन्दक पत्र के मध्य में रखकर दोनों अंगुलिओं द्वारा रगड़कर शुष्क कर ले, अथवा सोखता द्वारा भी ऐसा कर सकते हैं बाद में अग्नि में उष्ण कर पूर्णतया शुष्क कर ले।

छ–इन कार्यों के बाद केनाडा बालशम अथवा स्यूडरआइल या जलकी दो एक बिन्दु स्वच्छ कांचपट्टिका में डालकर ऊपर कांचपट्टिका अवरक या कवर ग्लास रखकर आयलइमरसन $\frac{1}{12}$ (तैलवागाही) उपनेत्र द्वारा अणुवीक्षण परीक्षण करना चाहिये। अधिकांश लोग कवर ग्लास को उपयोग नहीं करते हैं।

झीलनेलसैन महोदय की रंजन विधि

ZIEHL-NEELSEN-METHOD

यह श्लेष्म रंजन विधि लगभग गेवेट्स विधि के सदृश है। अनुभवी चिकित्सक अधिकांशतया इसको ही पसन्द करते हैं और उपयोग में लाते हैं। यदि इस पद्धति को कार्यान्वित करना हो तब उस

दशा में गेवट्स विधि की ङ-पद्धति को सम्यक्तया प्रतिपादित करने से कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इस पद्धति में तथा गेवट्स विधि में निम्न अन्तर रहा करता है और शेष पद्धतियां उसी प्रकार ही की जाती हैं। प्रथम न० अ–से प्रारम्भ कर जब चौथे नम्बर क–में कार्वोलफकश्चिन का प्रलेप किया जाता है, तब उस समय प्रलेप करने के बाद उस निर्मित प्रलेप (Smear) को ५ प्रतिशत शक्ति के सौरका अम्ल या नाइट्रिक एसिड द्वारा स्वच्छ कर ले, अथवा (घन हाइड्रोक्लोरिक एसिड ३ शीशी और ७०प्रतिशत शक्ति का एलकोहल ९७ शीशी मिलाकर मिश्रण बना लिया जाता है) इसको भी स्वच्छ करने के लिये उपयोग किया जाता है। प्रक्षालन कार्य उस अवस्था तक करे जब तक कि श्लेष्मा के पतले भागों में हल्का गुलाबी रंग न हो जाय। इसके उपरान्त जल द्वारा धो देना चाहिये फिर थोड़ा सा लोफलर मिथिलनब्लू रंजन द्वारा रंजित करके, पुनः जल द्वारा स्वच्छ कर ले।

अन्त में शुष्क करके अणुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षा की जाती है कभी-कभी कुछ चिकित्सक मिथिलब्लू रंजन के अभाव में निम्न रंजन का प्रयोग करते हैं (समभाग एलकोहल और पिक्रका अम्ल या पिक्रकएसिड का संतृप्त जलीय विलियन समभाग में मिलाकर विलियन निर्माण करलिया जाता है) इसमें विशेषता यह रहा करती है कि रंजक द्वारा रंजित करने पर यक्ष्मकोटाणु हल्के पीले रंग में रंजित हो जाते हैं। परन्तु अम्लत्यागी कीटाणु तथा कोषाणु इस रंग में न ीं पहचानें जाते हैं। इस पद्धति में यक्ष्मकीटाणु हल्के पीले रंग के पृष्ठ भूमि पर स्थिर रहतें हैं।

PAPPEN-HEIMS-METHOD–पैपिन हेम्स रंजन विधि

यह विधि बिल्कुल गेवट्स विधि के समान है। अन्तर इतना है कि उस रंजन के स्थान पर पैपिन हेम्स मिथिलन ब्लू रंजन का उप-

योग किया जाता है, इसमें रंजन कार्य अधिक काल तक और कई बार करते हैं। इन रंजकों की बोतलों के मुख को दृढ़ कार्क द्वारा बन्द रखना चाहिये जिससे कि बाष्पी भवन होकर विलियन नष्ट न हो जावें ; सामान्यतया यह पद्धति सन्तोषजनक होती है। इसमें यक्ष्मकीटाणु का विनाश होना असम्भव ही है, परन्तु पेपिनहेम्स रंजन द्वारा रंजित करने पर लाल रंग स्थित रहा करता है, परन्तु अन्य पद्धति में ऐसा नहीं होता है। सुखानेपर भी उसी दशा में रंग रहता है, वास्तव में इस रंजन का उपयोग केवल 'सेगमाविसलेस' (Smegma) के पृथक करणार्थ किया जाता है, जो साधारण रूप से रंजन करने पर विनाश हो जाता है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि इसके ऊपर निर्भर रहा जाय। अभी तक जितनी भी पद्धतियों का वर्णन किया गया है यदि इनसे रंजित करने पर यक्ष्मकीटाणु दिखाई पड़ेंगे तो उनको देखने पर उनकी रचना निम्न प्रकार की होगी। नील वर्ण के श्लेष्मा पृष्ठ भूमि पर लम्बे लम्बे लाल रंग के दण्डवत यक्ष्मकीटाणु दिखलाई पड़ेंगे, जो कि आकार में डेलीकेट् थ्रेड्स या सूत्र और ग्रेनूलरडिट्राइटस एवं (Granular-Detritis) कोषाणु सदृश प्रतीत होते हैं। इन कीटाणुओं का परिमाण विभिन्न प्रकार का रहता है, जो लम्बाई में ३ से ४ यू u तक और एक रक्त कण के १।। भाग व्यास का रहता है। नूतन चिकित्सकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि वो कहीं कोषाणुओं के किनारों या अन्य कोई कण को यक्ष्मकीटाणु समझकर रोग निदान में असफलता न पावें, जो सामान्यतया लाल रंग में रंजित हो जाता है। यक्ष्मकीटाणु का आभास सामान्यतया अन्य रचनाओं से विचित्र रहा करता है। यदि किसी प्रकार निदान करने में संशय उत्पन्न हो रहा हो तो कई बार वर्धित यक्ष्मा रोग में अन्य प्रलेप बनाकर परीक्षा कर लेनी चाहिये। इनमें

कीटाणु अकेले रहेगें या आपस में इक्ट्ठे रहेंगे। यह दण्डाणु बहुत कम (Bent)रहा करते हैं, प्राय: देखने में वेडैड (Beaded) माला के समान मालूम पड़ते हैं। यह सम्भव है कि दीर्घ मालाकार वेसलाई यानी यक्ष्मकीटाणु एक एक कीटाणु की अपेक्षा सक्रिय कम रहा करते हैं। कभी कभी यह देखा जाता है कि दो मिलीमीटर उपनेत्र के क्षेत्र में देखने पर यक्ष्मकीटाणु अधिक संख्या में दृष्टिगत होते हैं। कभी कभी वर्धित यक्ष्मा रोग में एक यक्ष्मकीटाणु का दर्शन करने के लिये अनेक वार कांचपट्टिका पर प्लेट निर्माण करना पड़ता है।

किसी किसी समय ऐसा पाया गया है कि रंजित करने पर भी यदि अल्प संख्या में यक्ष्मकीटाणु रहते हैं तो दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। ऐसी दशा में विशेष पद्धतियों द्वारा यक्ष्मकीटाणुओं का विवेचन किया जा सकता है, रोग की तीव्रता के ऊपर यक्ष्मकीटाणुओं की संख्या निर्भर रहा करती है। यक्ष्मकीटाणुओं के उपस्थित न होने से यह न समझना चाहिये कि रोगी के कफ में जीवाणु नहीं हैं, परन्तु रोगी के कफ में सपूय घन श्लेष्मा उपस्थित रहता है तब यह चिह्न अवश्य यक्ष्मरोग का द्योतक होता है। अणुवीक्षण परीक्षण करते समय जितने भी जीवाणु दिखलाई पड़ें उनकी संख्या पृथक् पृथक् लिख लेनी चाहिये। कीटाणु संख्या–लेखनविधि यह है कि उपनेत्र के क्षेत्र में जितने दृष्टिगोचर हों उनको लिख लेना चाहिये। परीक्षा के लिये रोगी के चौबीस घण्टे के सम्पूर्ण श्लेष्मा को एकत्रित करके और उसे भली प्रकार मिश्रित कर उसका प्रलेप निर्माण कर लेना चाहिये और उसमें जितने भी कीटाणु उपस्थित हों उस संख्या को उपयुक्त गणना समझनी चाहिये। अन्यथा विभिन्न कालीन कफ निकला करता है यदि उसका प्रलेप बनाकर परीक्षा

की जाय तो उसकी संख्यागणना सम्यक् नहीं मानी जाती। जहाँ तक हो सके प्रत्येक चिकित्सक को इसी प्रकार यक्ष्मा रोग का निदान करना चाहिये। जब किसी संशयात्मक रोग में यक्ष्मकीटाणु का प्रत्यक्ष दर्शन न हो सके तब निम्नलिखित पद्धति का आश्रय लेना चाहिये।

१—एन्टीफोर्मिन पद्धति :—
(ANTIFORMIN METHOD)

यह अत्यन्त प्राचीन पद्धति है इन पद्धतियों को व्यवहार करने में यह कठिनाई होती है कि रोगी के कफ को कास्टिक सोड़ा द्वारा क्वथन करने से यक्ष्मकीटाणु आघातित हो जाते हैं। इससे उनका रंजन उचित रूप से नहीं हो पाता और उनको पहचानने में बड़ी कठिनाई होती है। विशेष अवस्थावाले रोगियों के अतिरिक्त यदि कीटाणुओं की संख्या अल्प हो और वह पृथक् पृथक् कफ में बिखरे हुये पड़े हों तब कन्सन्ट्रेशन पद्धति द्वारा सावधानी पूर्वक इच्छित श्लेष्मांश का प्रलेप बनाने पर भी भ्रम हो सकता है। एन्टीफोरमिन कई एक द्रव्यों के सम्मिश्रण से निर्माण किया जाता है। यह नामकरण व्यापारिक दृष्टि से किया गया है।

सम्मिश्रण

१–१५ प्रतिशत शक्ति का कास्टिक सोड़ा का विलियन २–२० प्रतिशत शक्ति के सोडियम हाइपोक्लोराइड का विलियन इन दोनों के मिलाने से सम्मिश्रण बन जाता है। अधिक काल तक विलियन रक्खा रहने से इसकी शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगती है। इन सब विधियों में लोफलर्स पद्धति रोग निदान के लिये श्रेयस्कर है। इस विलियन द्वारा जीवाणुओं का नाश भी होता है, जिससे चिकि-

त्सक को किसी प्रकार का उपसर्ग होने का भय नहीं रहा करता। इतना निश्चित निदान हो जाने पर भी यक्ष्मकीटाणु का पृथक्-करण वर्धनार्थ नहीं कर सकते हैं।

रंजन विधि

किसी छोटे फ्लास्क में १० से २० शीशी मात्रा में रोगी का कफ डालदे और उसमें कफ के ही समान मात्रा में ५० प्रतिशत शक्ति का एन्टीफोर्मिन सम्मिश्रण भी मिला दे, तदुपरान्त उसको जल के क्वथन समय तक उबालना चाहिये। सामान्यतया कफ कुछ ही सेकेन्ड में द्रवीभूत हो जायगा। प्रत्येक १० शीशीमात्रा कफ के लिये १.५ शीशी मात्रा में निम्न बनाया हुआ मिश्रण डाल देना चाहिये। *(एक भाग क्लोरोफार्म और नौ भाग एलकोहल)* फ्लास्क के मुख को रबरकार्क द्वारा बन्द कर दे और शक्ति पूर्वक कई बार हिलाना चाहिये जब तक उसमें पयस्य या इमलसीफीकेशन उत्पन्न न हो जाय, इस विधि का ध्येय केवल यही होता है कि यक्ष्मकीटाणु का लिपाइड कैपशूल क्लोरोफार्म से मिल जाये और उसकी आपेक्षिक घनता बढ़ जाय। जितना भी एमलशन हो जाय उसको परिभ्रामक यन्त्र की नली में उडेल दे और तीव्र गति द्वारा लगभग १५ मिनट तक घुमाता रहे, जब उसमें उपस्थित क्लोरोफार्म नीचे अवक्षिप्त हो जायगा और सतह के ऊपर जो सेडीमेन्ट पतले स्तर में स्थिर हो जाता है, उसमें ही यक्ष्मकीटाणु रहते हैं। उसमें रहनेवाले सम्पूर्ण तरल द्रव्य को अलग उडेल दे और सेडीमेन्ट को स्वच्छ कांचपट्टिका पर डालदे और जो तरल अधिक मात्रा में हो उसको निष्यन्दन पत्र द्वारा शोषित कर लेना चाहिये। विलियमसन् महोदय का विचार है कि Toto में सेडीमेन्ट के Disc को पृथक् करने

के लिये परिभ्रामक यंत्र के आधा इञ्च निम्नभाग की नली में जो कि खुला रहता है उसको रबर स्टापर द्वारा बन्द कर दे और उसमें थोड़ा सा अपरीक्षित कफ को डाल दे जिससे कि वह कांच पट्टिका पर भली प्रकार संशक्त हो जाय। बाद में काँच पट्टिका पर एक समान पतला प्रलेप बनाकर और उसको सुखाकर स्थिर कर बाद में झीलनेलसेन विधि द्वारा रंजित कर लेना चाहिये।

लोफलर महोदय काउन्टरस्टेन या विरोधी रंजन के लिये ०.१ प्रतिशत शक्ति का मालचाइड्ग्रीन विलियन का प्रयोग करते हैं। अन्त में अणुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षण कर सकते हैं। इनके अलावा और कई जीवाणु ऐसे हैं जो कि यक्ष्मकीटाणुवत् रंजित किये जाते हैं। इस कारण उनका समावेश अम्लसाहीवर्ग में किया गया है। इस वर्ग के कीटाणु पहले अत्यन्त कठिनाई से रंग ग्रहण करते हैं। यदि रंजित हो भी जाते हैं तो उनको खनिजाम्ल द्वारा ही अपने रंग को शनैः शनैः त्याग कर सकते हैं। परन्तु यक्ष्मकीटाणु के समान इस वर्ग के अधिकांश जीवाणु अलकोहल तथा पेपिन्हेम्स विलियन में नष्ट हो सकते हैं। इनमें से कुष्ट दण्डाणु स्मेगमा मक्खन और घास में रहनेवाले कीटाणु और चिरकालिक रक्खा हुआ शुद्ध तिर्यकपातिकजल में भी जीवाणु उपस्थित रहते हैं। इस कारण अधिक समय का रक्खा हुआ त्रिपातिकजल का उपयोग प्रलेप प्रक्षालन कार्य और रंजन कार्य में नहीं करना चाहिये। अम्लसाही वर्ग के जीवाणु केवल Smegma बेशलेश ही ऐसा जीवाणु है जिससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। यह जीवाणु सामान्यतया प्रजोत्पादक अंगों में और शरीर के अन्य भागों में यथा कक्षप्रदेश और ऐसा स्थान जहाँ कि उदरेचन अधिक होकर एकत्र हो सके।

मूत्र में तथा कर्णगूथक रोग में भी हो सकता है। यह और इसी के सदृश जीवाणु कभी कभी फुप्फुस में गेन्गरीन उत्पन्न होने पर उससे जो कफ निकला करता है उसमें मिला करते हैं। मूत्र से यक्ष्मकीटाणु को पृथक् करने की पद्धति का वर्णन मूत्र परीक्षण में देखना चाहिये। अम्लसाही वर्ग की अपेक्षा अन्य कुछ जीवाणु ऐसे हैं जो गेवट्स और झीलनेलसेन पद्धति द्वारा रंजन करने पर भी नीलवर्ण में रंजित हो जाते हैं, अधिकतर इनमें स्टेफलोकोकाई स्ट्रेप्टोकोकाई और न्यूमोकोकाई नामक जीवाणु हैं। ये ही जीवाणु यक्ष्मजीवाणु के साथ मिलकर उपसर्गित हों तब इन्हें मिश्रित उपसर्ग कहते हैं। इसमें संशय नहीं कि कुछ रोगियों में ये ही जीवाणु मृताश्रयी रहा करते हैं। इतना ध्यान रखना चाहिये कि कुछ जीवाणु मुख द्वारा और अधिक संख्या में कफ के अवक्षिप्त होने पर प्रविष्ट हो जाते हैं। यक्ष्म कीटाणु के अनेक भेद हैं, जो विभिन्न प्रकार प्राणी के लिये हानिकर होते हैं। ऐसे जीवाणु को विकारीय या पेथोजनिक कहते हैं। उदाहरणार्थ मानव प्राणिज (Humun) बोवाइन (Bovian) एवाइन–रेप्टेलिनवेसलाई (Reptilan) (Humum) और बोवाइन दोनों प्रकार के यक्ष्मकीटाणु मानव प्राणी के लिये विकारी होते हैं, अन्य जो शेष रहा करते हैं अधिकांशतया वे बाल्यावस्था के आंत्र और लसिका वाहिनियों के (Lesion) में उपस्थित रहते हैं। लेकिन नैदानिक दृष्टिकोण से इन दोनों को पहचानना अधिक कठिन होता है।

२—लोफलर्स पद्धति (Loaffler's-method)

इसका व्यवहार तन्तु पिच्छों या फलेजला के रंजनार्थ करते हैं। तन्तु पुच्छ रंजनार्थ जो भी पद्धतियाँ प्रयुक्त हुआ करती हैं, वे

केवल वर्धनार्थ ही होती हैं। यदि आगर माध्यम में १८ घंटे से २४ घंटे अधिक न हों तब तक तन्तु पुच्छ अधिक बढ़ जायें और उनसे मन्द मेघवत् आभास सा प्रतीत हो तब शुद्ध तिर्यकपातिल जल मिला देना चाहिये। इसी में से एक छोटी सी बिन्दु कांचपट्टिका का आवरक पर डालदे और Tilting द्वारा फैलाकर शीघ्रता पूर्वक सुखा ले, यह पट्टिका आवरक ग्रीज से बिलकुल स्वतन्त्र होना चाहिये। इनको Insure करने के लिये इन्हें घन गन्धका अम्ल (कन्सनट्रेटेड् सलफ्फ्यूरिक एसिड) द्वारा गरम कर लेना चाहिये। बाद में जल से स्वच्छ करके उसको तीव्र एमोनिया और एलकोहल के सम्मिश्रणमें रक्खा जाता है। प्रयोग करने के पूर्व इनको वसा-रहित वस्त्र पर सुखा कर रख लिया जाना है। इसके लिये दो कवर ग्लास प्रयोगमें लाया जाय उसको अंगुलियों द्वारा स्पर्श नहीं करे, बल्कि उसके सुखाने के लिये दो काष्ठ पट्टिकायें को (Lint-free) वस्त्र के कई स्तर में लपेटकर उसको रगड़ कर शुष्क किया जाना चाहिये।

रंजन विधि

१—हाथ में ग्रहण करने के पूर्व स्लाइड होल्डर द्वारा कांच-पट्टिका आवरक को अग्नि द्वारा उष्ण कर स्थिर कर लें।

२—बाद में निम्नलिखित ताजा बनाया हुआ और परीसुत (mordant) द्वारा आवृत कर लगभग एक मिनट तक गरम कर ले। अ—२० प्रतिशत शक्ति टेनिका अम्ल का जलीय विलियन १० शीशी, ब—कोल्ड फेरस सल्फेड का संतृप्त विलियन ५ शीशी, या स-जेन्सन वालेट का एलकाहालीय संतृप्त जलीय विलियन १ शीशी।

३—जलद्वारा धोले।

४—फिर ताजा बनाया हुआ निष्यन्दित एनेलिन जेनशन

वाइलेट को प्रलेपित करके बाद में एक से १॥ मिनट तक उष्ण कर ले।

५—अन्त में जल द्वारा प्रक्षालन कर अणुवीक्षण परीक्षण कर लेना चाहिये।

FLOURESCENT DYE
३–फ्लूरेसेन्ट डाइ या पद्धति

इस पद्धति का आविष्कार हेगमेनन रिचार्डस और मिलियर नामक विद्वानों ने मिलकर किया था। इसका वर्णन रिचार्ड महोदयने अमेरिकन जनरल क्लीनिकल पेथोलोजिकल टिकनिकल सप्लेमेन्ट्री जनवरी १९४१ अंक में किया है और इसका संग्रह उसी पत्रिका से किया गया है। इस पद्धति को सम्पादित करने के लिये साधारण फ्लोरिसेन्स अणुवीक्षण यंत्र का व्यवहार किया जाता है, किसी किसी अवस्था में यह पद्धति सम्पूर्ण पद्धतियों से श्रेयष्कर हो जाया करती है। यक्ष्मकीटाणु परिज्ञानार्थ यह सहायक पद्धति हुआ करती है। इसके लिये एक अन्धेरा कमरा होना चाहिये और श्लेष्मरंजनार्थ फ्लोरिसेन्ट डाई तथा Auramino की आवश्यकता पड़ती है। यक्ष्मकीटाणु इस डाई द्वारा रंजित हो जाते हैं और अल्टावायिलेट वेश्ज या पराकाश्मनी किरणों द्वारा ये कीटाणु तीव्र चमकते हुये दंडाकार के समान प्रतीत होते हैं।

रंजक विलिन या डाई निम्न प्रकार निर्माण करते हैं :—

औरोमिन ओ (नेशनल इनिन कम्पनी) ०.१ ग्राम की शुद्ध तिर्यकपातिक जल ९७ शीशी या M. L. में विलीन कर और उसमें लेक्लीफाइडफिनोल ३ M. L. मिलाकर बना लेते हैं। थामशन महोदय का विचार है कि यह डाई निम्न विधि द्वारा बनाने पर शीघ्रता पूर्वक विलेय है।

विलियन–अ

तिर्यकपातिक जल.... .....८७ शीशी

लिक्वीफाइड फिनोल...........३ ,,

इन दोनों को भली प्रकार मिश्रित कर लिया जाय ।

विलियन–व

अलकोहल–९५ प्रतिशत शक्ति.... ... .१० शीशी

औरोमाइन ओ..........०. १ ग्राम

जब निर्मित विलियन–अ, भली प्रकार मिल जाय और डाई पूर्णतया घुलनशील हो नम्बर–ब, के विलियन में और पुनः उसी प्रकार विलियन–ब, को विलियन–अ में डालना चाहिये । तब रंजन बिलकुल स्वच्छ हो जायगा और उसमें किसी प्रकार का अवक्षेप नहीं रहेगा । मिलियन तथा रिचार्ड दोनों महोदयों ने उस समय एक निम्न रंग नाशक डिक्लोराइजिंग घोल निर्माण करने के लिये कहा है । उसको प्रयोग में लाना चाहिये । डिक्लोराइजिंग सेलूशन–

एलकोहल–७० प्रतिशत.........१०० शीशी

हाइड्रोक्लोरिक एसिड घन....... ०. ०,५ शीशी

सोडियम क्लोराइड...........०..५ ग्राम

उपर्युक्त सब द्रव्यों को मिलाकर विलियन निर्माण कर ले[१] । सामान्य विधि का आश्रय लेते हुये कफ का प्रलेप काँचपट्टिका पर निर्माण करके उसे दो से तीन मिनट तक रंजित करे, बाद में ट्रेप–वाटर या नल के जल द्वारा स्वच्छ कर ले, बाद में फिर दो से तीन मिनट तक डिक्लोराइज कर लेना चाहिये । पुनः ताजा विलियन बनाकर उसको दो से ५ मिनट तक ब्लीच कर ले, उसके

१. यहां चित्र नं० ६ देखें ।

(From Richard's Klineandleach, AM, Review Of TYB. Vol. 144)
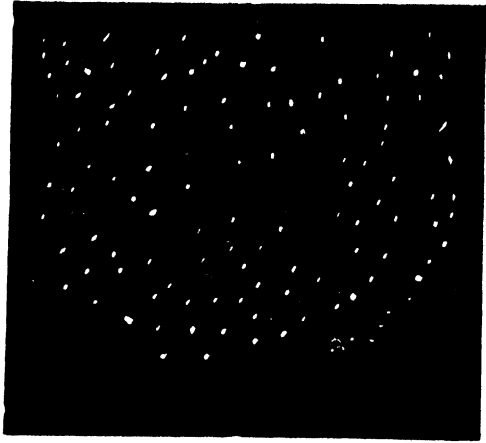
चित्र नं० ६ पृष्ठ ३८

बाद कांचपट्टिका को धोकर सुखाले। थामसन्‌महोदय का अनुभव यह है कि यदि श्लेष्मा के प्रलेप को डिक्लोराइजिंग विलियन में हाइड्रोक्लोरिक एसिड् की मात्रा से द्विगुण घन प्रलेपित करके बाद में १० मिनट तक ब्लीच किया जाय तब यह विधि श्रेयष्कर मानी जाती है। अणुवीक्षणयंत्र में पीत निष्यन्दक लगाकर जिससे कि वह डाइफरोम पर ही आश्रित रहे और आकुलर की अन्दर की ओर रहे। अणुवीक्षण कांच के ऊपर एलमीनाइजड मिरर या कांच रखकर बाद में पराकासनी–किरणों को अणुवीक्षण लैम्प के ऊपर से निष्यन्दित होने दे। जिस कमरे में परीक्षण करना हो वह बिल्कुल काला हो जिससे यक्ष्म के कीटाणु काले भूमि पृष्ठ पर तीव्र चमकते हुए दण्डाकार प्रतीत होने लगेंगे। इस परीक्षणकार्य में ८ मिली मीटर उपनेत्र तथा २० आकुलर का व्यवहार करना चाहिये।

२–अन्य परीक्षण-स्टेफलोकोकस तथा स्ट्रेपटोकोकस

सामान्यतया पूय उत्पादक ये दोनों ही जीवाणु हैं। दोनों जीवाणु आकार में गोल और सर्षप के दाने के समान होते हैं। इनका सामान्य व्यास ०.७ u रहा करता है। इनमें स्टेफलोकोकाई जीवाणु गुच्छे के रूप में होते हैं। जिनकी समानता अंगूरों के गुच्छों से की जा सकती है। इन जीवाणुओं के अनेक प्रकार हैं, जो कि केवल वर्धन करने पर ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं। स्ट्रेपटोकोकाई प्रायः आपस में मिले रहते हैं और एक माला का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी लम्बाई विभिन्न प्रकार की होती है, अर्थात् कुछ छोटी और कुछ बड़ी मालाओं के रूप में होते हैं। कभी कभी ये मालाएँ पृथक् पृथक् तीन या चार होतीं हैं और कभी यह भी देखा गया है कि माला इतनी बड़ी होती है कि वह अणुवीक्षणयंत्र के कई एक क्षेत्रों तक फैल सकती है। जिससे पहचानने में कठिनाई होती है। स्टेफलो-

कोकाई की अपेक्षा स्ट्रेपटोकोकाई अधिक Virulent होते हैं और आपस में बहुत कम मिले रहते हैं। ये दोनों ग्राम ग्राही जीवाणु होते हैं, परन्तु कभी कभी किसी समय पूयाणु के अन्दर अपजनित स्वरूप का अथवा डी जनरेटिंग फॉर्म का आवरण होने से ये ग्राम त्यागी हो जाया करते हैं। इन में से एक अथवा दोनों जीवाणु वर्धित राजयक्ष्मा रोगियों के श्लेष्मा में सामान्यतया उनके साथ मिले रहा करते हैं। प्राय: ये जीवाणु कास प्रतिश्याय जनित श्वसनकज्वर एवं अन्य कई अवस्थाओं में उपस्थित रहते हैं। इनमें स्ट्रेप्टोकोकस अधिक महत्त्व पूर्ण है। सामान्यतया यह तीव्र स्वरभंग गलसुण्डिका शोथ रोग का कारण होता है। दोनों जीवाणु कभी कभी ष्ठीवन में और स्वस्थ दशा में मुख के अन्दर मिताश्रयी रूप में मिला करते हैं।

३—न्यूमोकोकस (डिप्लोकोकस निमोनिया) न्यूमोकोकस सामान्यतया क्रुप्स निमोनिया के सम्पूर्ण प्रकारों में पाया जाता है। और इसी रोग के मण्डूरवत् ष्ठीवन में ये अधिक संख्या में रहा करते हैं। ये थोड़ी संख्या में प्रतिश्याय जन्य श्वसनकज्वर कास और राजयक्ष्मा रोग में मिलते हैं। इन रोगों में ये हानिकारक मृताश्रयी नहीं रहा करते हैं। इनके अलावा ये निम्न रोगों के उत्पादक होते हैं—फुप्फुस आवरण प्रदाह मस्तिष्क सौषुम्निकज्वर मध्यकर्ण शोथ और अन्य शोथ। ये अल्प संख्या में स्वस्थ कफ में मिलता है। निमोकोकाई लगभग स्ट्रेप्टोकोकाई के परिमाण का होता है, आकार में यह अण्डाकार युगलरूप में और अन्त में लघुमाला के सदृश दिखलाई पड़ता है। प्रत्येक युग्म जिलेटीन कैपसूल से घिरा रहा करता है, यह इसका एक द्योतक चिह्न है। निमोकोकाई की रचना स्ट्रेप्टोकोकस से इतनी मिलती जुलती है कि इसको वर्धन—पद्धति द्वारा वर्धन करने पर

यक्ष्म कीटाणु, पूयकोषाणु तथा स्ट्रैप्टोकोकाई और श्लेष्मीय सूत्र, झील नील्सन विधि
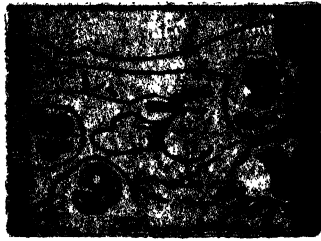
चित्र नं० ७ पृष्ठ ४१

स्टेफिलोकोकाई
Much-granule

चित्र नं० ८ पृष्ठ ४१

पृथक् करण करना अधिक कठिन हो जाता है। [1]न्यूमोकोकस जीवाणु का विकृति शारीर या वास्तव में ग्राम ग्राही होता है और कैपसूल कफ और पूय के प्रलेप में उपस्थित होने से इस रोग का स्पष्ट द्योतक माना जाता है। प्रायः ग्राम पद्धति और अन्य सामान्य पद्धतियों द्वारा प्लेट को रंजित करने पर कैपसूल युग्म सर्षपाकार के चारों ओर Halo के समान प्रतीत होते हैं। परन्तु निश्चित ज्ञानार्थ विशेष पद्धतियों का अवलम्बन करना चाहिये कैपसूल के रंजन करने के लिये अनेक विशेष पद्धतियाँ हैं जो (इन कैपसूलेटेड) जीवाणु के रंजनार्थ भी व्यवहार करते हैं। यदि इनमें कोषावरण या कैपसूल भली प्रकार वर्धित होते हों तब निम्नलिखित किसी भी पद्धति द्वारा रंजन करने से कोषावरण सुन्दर और स्पष्ट प्रतीत हो सकते हैं। प्रधानतया इस कार्य के लिये श्लेष्मा और पूय ताजा होना चाहिये, अधिक से अधिक दो तीन घंटें का रक्खा हुआ व्यवहार कर सकते हैं। इससे अधिक समय का प्रयोग करना व्यर्थ है। जब कभी नियमोकोकाई फुप्फुस और फुप्फुसीय गुहा से सम्बन्धित होते हैं तब वे किसी भी स्थानीय प्रदेश में शोथ उत्पन्न कर सकते हैं, यदि न्यूमोकोकस के साथ यक्ष्मा का संशय हो रहा हो, तब झीलनेलसेन और गेवट्स पद्धति द्वारा श्लेष्म रंजन करना चाहिये।

W. H.—स्मिथ महोदय की पद्धति—(कैपसूल के लिये)

१—रोगी के श्लेष्मा या अन्य किसी परीक्ष्य वस्तु का तनु प्रलेप निर्माण कर ले। जहाँ तक हो सके परीक्ष्य वस्तु ताजी ही होनी चाहिये।

२—अव इस प्लेट को सामान्य प्रकार से अग्नि में उष्ण कर स्थिर कर ले।

३—स्थिर होने के बाद (फासफोमोलाइडिक एसिड मर्क) का

---

1. यहाँ चित्र नं० ७, ८ देखें।

दस प्रतिशत शक्ति का शुद्ध तिर्यकपातिक जलीय विलियन को ४ से ५ सेकेण्ड तक लगाना चाहिये।

४—जल में Rinse कर ले या धो ले।

५—इस समय बना हुआ एनेलिन जन्सन दाइलेट को लगाकर बाद में धीरे धीरे पन्द्रह से तीस सेकेण्ड तक उनको बाष्पी भवन होने दे।

६—जल में Rinse करके।

७—ग्राम्सस आइडीन विलियन को प्रलेपित कर सुगमता पूर्वक १५ से ३० सेकेण्ड तक स्टीबिंग या बाष्पीभवन होने दे।

८—९५प्रतिशत शक्ति के एलकोहल में उस समय तक स्वच्छ करते रहे जब तक कि हल्का गुलाबी या (Purple) रंग नष्ट न हो जाव।

९—जल में फिर Rinse कर लें या डुबो ले।

१०—६ प्रतिशत शक्ति इयोसिन (Eosin) को शुद्ध जलीय विलियन प्रलेपित कर मन्द अग्नि पर एक या १॥ मिनट तक गरम कर लेना चाहिये।

११—बाद में जल में रिन्स कर ले या डुबो ले।

१२—और फिर एवसल्यूट एलकोहल द्वारा स्वच्छ कर ले।

१३—इसके बाद जायलोल (Xylol) से और साफ कर ले।

१४—बाद में अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा कर ले।

यह पद्धति लगभग ग्राम्स महोदय की पद्धति के समान ही है सामान्यतया ग्राम ग्राही जीवाणु तथा निमोकोकस रंजित होने पर गहरे गुलाबी रंग या (डीप परपल) और कैपसूल या कोषावरण गुलाबी रंग के एवं अन्य शरीर स्पष्ट रहा करता है। जब किसी ग्रामत्यागी

जीवाणु के लिये उपरोक्त पद्धति का व्यवहार करना हो तब उस समय नं० ५ तथा ६ को प्रयोग में न लाकर ११ तथा १२ नं० के मध्य में ही प्रलेप को लोफलर मिथिलन ब्लू द्वारा पुनः रंजित करके बाद मे मन्द आँच पर १५ से ३० सेकेण्ड तक गरम कर ले। इसमें केवल इतनी ही विभिन्नता रहती है।

रोज नोज मेथड—ROSNOWS METHOD

यह विधि स्मिथ पद्धति के समान है, परन्तु इसमें नम्बर २ और नम्बर ३ क्रम में जो कार्य वर्णित हैं (जैसे—उष्ण करना और फासफोमोलाइडिक एसिड का प्रयोग) उसके स्थान पर यहाँ १० प्रतिशत शक्ति का टेनेका अम्ल विलियन को प्रलेपित करना चाहिये। जब तक प्रलेप गीला रहे और उसका प्रभाव कार्य करने के लिये उसको १० से २० सेकेण्ड तक इसी प्रकार रहने दे। इस पद्धति द्वारा कोषाणु आवरण या कैपसूल का ज्ञान हो जाता है। जब उपरोक्त दोनों पद्धतियाँ प्रयोग में नहीं लाई जाती है तब कोषावरण के लिये हिस पद्धति का व्यवहार करना चाहिये। इसकी विधि निम्न प्रकार है।

१—काँचपट्टिका पर प्रलेप को स्थिर और शुष्क कर ले और बाद में निम्न रंजक का प्रयोग करे संतृप्त अलकोहलीय जन्सन वालेट विलियन ५ शीशी और शुद्ध त्रिपातिक जल—९५ शीशी मिलाकर बना ले और उस समय तक गरम करता रहे जब तक कि वाष्प न निकलने लगे।

२—इसके उपरान्त उस प्रलेप को २० प्रतिशत शक्ति के कौपरस-ल्फेट या तुत्थ के विलियन द्वारा धोकर और सुखाकर केनडाबालशम में चढ़ाकर परीक्षा करले। निमोकौकस के अन्य जितने भी भेद हैं

उनका वर्णन जीवाणु विज्ञान में लिखना चाहिये, यहाँ इसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। फुप्सनिमोनियारोग में अधिकांश प्रथम प्रकार के जीवाणु का ही उपसर्ग होता है।

४–फ्रेडलेन्डर का जीवाणु–(क्लेगसिल्लानिमोनिया) श्वसनक–ज्वर के रोगियों में ये अकेला या कभी कभी नियमोकोकस के साथ अल्प संख्या में मिलता है। सामान्यतया इसे वेसिलसम्यूकसके–पसिलेटस नाम से सम्बोधित करते हैं। इसमें विकारीय चिह्न अनिश्चित होते हैं। यह स्वस्थ अवस्था में भी श्वास प्रणालियों में उपस्थित रहा करता है। यह जीवाणु Non-motile-encapsulated-rods (ननमोटायल अनकेप सुलेटेड रोड्ज) में और कभी कभी लघु माला के रूप में रहते हैं। इनका विभेदन नियमोकोकाई से इस प्रकार कर सकते हैं। नियमोकोकाई पृथक् पृथक् छोटे छोटे माला के रूप में होते हैं। वास्तव में ये ग्राम में नष्ट हो जाते हैं।

५–इन्फलुएन्जा का जीवाणु (हेमोफाइलेसइन्फ्लुएन्जा) कुछ समय तक लोगों की यही धारणा थी कि वास्तव में वातश्लैष्मिक ज्वर का कारण यही एक जीवाणु है[1]। यद्यपि चिकित्सकों को यह भी ज्ञान था कि नियमोकोकस और स्ट्रेप्टोकोकस द्वारा भी इफ्लुएन्जा के समान अवस्थाएं उत्पन्न हो सकती हैं। कभी कभी यह अधिक संख्या में नासामार्ग और वायु प्रणाली से निकलनेवाले स्रावों में और इनके अलावा स्थानीय प्रदेशों में होने वाले उपसर्ग से निम्न उपद्रव हुआ करते हैं। यथा जीर्णकास होने से ही आभास हो सकता है कि यक्ष्मा होने वाला है, परन्तु वास्तव में यह वातश्लैष्मिक ज्वर का मूलकारण होता है, इसमें अधिक संख्या में वातश्लैष्मिक ज्वर के कीटाणु उपस्थित रहते हैं। १९१८ और १९०० सन् में जब इसका विश्व-

---

[1] यहाँ चित्र नं० ९, १० देखें।

न्यूमोनिया का जीवाणु
(Ford Text Book of Bacteriology)
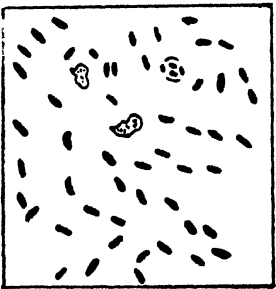
चित्र नं० ९ पृष्ठ ४४

इन्फ्लुयन्जा का जीवाणु
(Ford Text Book of Bacteriology)
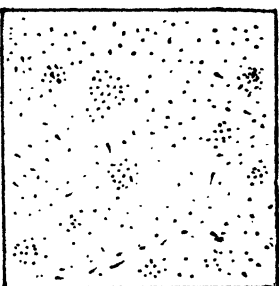
चित्र नं० १० पृष्ठ ४४

व्यापी मारक प्रसारित हुआ था, तब उस समय के चिकित्सक उसके प्रधान कारण का निश्चित कारण इन्फ्लुएन्जा नहीं कर सके थे। अब भी कुछ लोगों की यह धारणा है कि यह रोग विषाणु जन्य है।

जीवाणु परिज्ञान——इसके जीवाणु और ष्ठीवन का प्रलेप निर्माण करने पर कीटाणु अधिकतर छोटे दण्डाकार होते हैं, अधिकांश जीवाणु पूय कोषाणुओं में ही पड़े रहा करते हैं। मध्य शरीर की अपेक्षा इनका अन्तिम शरीर अधिक गहरा और रंजित होता है। ये कभी कभी क्षणिक या मिनट डिप्लोकोकाई के समान आभासित होते हैं और ग्राम्स रंजक पद्धति द्वारा रंजन करने पर डिक्लोराइज यानी इनका रंग नष्ट हो जाता है। इसके अलावा उसे भली प्रकार डायलूट फक्चीन अथवा पेपींनहेम्सपाइरोजिन मिथिल ग्रीन द्वारा रंजित कर सकते हैं, परन्तु ग्राम्स रंजक पद्धति द्वारा और पायोरोनिन मिथिल ग्रीन द्वारा कौउन्टर स्टेने या विरोधी रंजित करने पर भी निश्चित पूर्वक रंजित होते हैं।

६—वैसिलस परटघूसिस——आक्षेप युक्त कास जीवाणु (हेमोफालिया परटघूसिस) यह जीवाणु कुकुर कास रोग की नूतन अवस्था से निकलने वाले श्लेष्मिक स्राव में अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

ये कीटाणु क्षणिक अण्डाकार ग्रामत्यागी वर्ग के हैं। जो साधारण रंजक द्वारा रंजन करने पर हलका रंजित होते हैं, कभी कभी यह भी होता है कि ये जीवाणु पूय कोषाणुओं में नहीं पड़े रहते हैं। इनके जीवाणु का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये विद्यार्थियों को वातश्लैष्मिक ज्वर के कीटाणुदर्शन की पद्धति का आश्रय लेना चाहिये। इसमें शारीरिक विकृतियां मिलती जुलती हैं।

७–माइक्रोकस केटेरेलिस–प्रतिश्याय का जीवाणु–इसके जीवाणु का नाम (नेस्सेरिया केटेरेलिस) है, यह श्वासप्रणाली में शोथ उत्पन्न होने पर और उस में से निकलने वाले स्राव एवं श्लेष्मा में थोड़ा बहुत मिला रहता है। यह जीवाणु वातश्लैष्मिक ज्वर के सदृश प्रतीत होता है। स्वस्थ पुरुष के नासिका मार्ग से निकलने वाला स्राव में भी यह उपस्थित रहता है, यह हानिकारक कम होता है। यह जीवाणु ग्रामत्यागी वर्ग का है, डिप्लोकोकस और अन्तरकोषीय होता है जिसको वर्धन माध्यम द्वारा (कलचर मीडिया द्वारा) मेनीगोकोकस तथा गोनोकोकस द्वारा विभेद कर सकते हैं। वातश्लैष्मिक ज्वर के दण्डाणु के रंजक के लिये जो रंजक या स्टेन्स व्यवहृत होते हैं उनका इसके लिये भी प्रयोग करना चाहिये। साधारण माध्यम में यह जीवाणु शनैः शनैः वृद्धि करते हैं।

८–हाईयर वेक्टेरिया (Higher)–कीटाणु और Molds के अन्तरगत एक इसका भी वर्ग होता है, जिसको किसी समय ट्राइकोमाइटिस कहते हैं, अथवा हेयरफन्गाई कहा जाता है या फन्गस वृद्धि कहते हैं। ये सब फिलेमिन्स का निर्माण करते हैं जो कि मोल्ड के हेफे से कहीं अधिक सेलेण्डर होते हैं। इनका वर्गीकरण अभी अनिश्चित ही है। अमेरिका के कुछ विद्वानों ने (वर्ग, वुच्छनम ने) इनको एक्टनोमाइसिटेलिस और एक्टनोमाइसीटेसिए परिवार में ग्रहण किया है। इस वंशके जीनस लेप्टोट्राइका और एक्टनोमाइसिस रोगी के कफ में नहीं मिलते हैं। इनमें लिप्टोट्राइकिया जीवाणु आकार में बड़ा शाखा रहित फिलेमेन्ट्स और उनकी दीवाल में एक विभेदक निर्माण करता है। जीनस एक्टनोमाइसिस में अनेक विशेषताएं होती हैं–१–एरोविक–वातातपी २–एनएरोविक

आवातातपीक--३--एसिडफास्ट--अम्लसाही--४--ननएसिडफास्ट--अलम त्यागी--इनके साधारण दो प्रकार श्लेष्मा में मिलते हैं।

१--एक्टनोमाइसिसहोमोनस २--एक्टनोमाइसिस फोरसिनिकस अन्य पर्याय शब्द १--नोकारडिया २--स्ट्रेप्टोथाइक्स इसमें अन्तिम-प्रकारीय द्वारा फिलेमेन्ट्स बनते हैं, लेकिन Clubs नहीं होते हैं और यह वातातपी होता है इनको आगर और पोटेटो माध्यम में वर्धन करने पर श्वेत और पीत वर्ण का पिगमेन्ट प्राप्त होता है। सामान्यतया ये अलमसाही वर्ग के हैं। लेकिन कभी कभी एलकोहल और पेपिनहेम्स विलियन में शनैः शनैः इनका रंग नष्ट हो जाया करता है।

रचना--रोगी के श्लेष्मा में इसकी रचना निम्न प्रकार होती है--इनके फिलेमेन्टस की रचना छोटी और शाखाएँ बहुत होतीं हैं जो एक गुच्छ के रूप में पड़ी रहतीं हैं अनभिज्ञों द्वारा यक्ष्मकीटाणुओं के गुच्छों से भ्रम उत्पन्न करतीं हैं।

३--कोषाणु (सेल्स)

इसके अन्तरगत बहुप्रकार के श्वेत कण इपीथीलिअल कोष और रक्ताणुओं का समावेश होता है, इनके रंजनार्थ राइट्स स्टेन सन्तोष दायक होता है।

१--श्वेताणु लिकोसाइट्स--बहुकेन्द्रीय श्वेताणु या पौलिमार्फ नियुक्लीअर नीट्रोफिलस--ये पूयाणु के रूप में थोड़ी थोड़ी मात्रा में प्रत्येक रोगी के श्लेष्मा में उपस्थित रहते हैं, ये आकार में गोलाकार कण रूप में और इनका व्यास १० से १२ u तक होता है। इनमें बहुकेन्द्र होते हैं या एक ही केन्द्र विषम होता है। जो विना रंजन द्वारा ग्रेनुअल्स से पहचाना जा सकता है, यदि उनकी परीक्षा

करने के लिये रक्त प्रलेप बनाया जाय और किसी भी साधारण रक्त रंजक द्वारा रंजित किया जाय तो इनके केन्द्र स्पष्ट रंजित हो जाते हैं, जिससे इनके बहुकेन्द्र की रचना का ज्ञान सुगमता से हो सकता है। चिरकालीन रोगियों के श्लेष्मा में ये कोषाणु (Disintegrated) डिसिंटिगरेटेड हो जाते हैं, जिससे इनको रंजित अवस्था में भी पहचानने में कठिनाई पड़ती है। यदि यही कोषाणु श्लेष्मा में या मिश्रित प्रीडोमिनेट हो जावे तब पूय उपसर्ग समझना चाहिये।

२—लसिकाअणु (लिम्फोसाइड्स) श्लेष्मा में ये पूयआणु के साथ अल्पसंख्या में मिला करते हैं। इनका विभेदन पूयआणु से इस कारण किया जा सकता है कि इनका केन्द्र एक और गोलाकार होता है। यक्ष्मा के सामान्य प्रकार और पूर्व उपसर्ग यदि विशुद्धतया हो और उसमें कोषाणु मिश्रित (प्रीडोमिनेट) हो तब इन पूय उत्पादक उपसर्ग से विभेदन करने में अधिक सहायता मिलती है। यदि यक्ष्मा रोग का पूर्णतया निश्चय हो जाय तब लसिका कोषाणु बहुकेन्द्रीय कोषाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। यदि ऐसा चिह्न उत्पन्न हो जाय तो राजयक्ष्मा का द्वितीयक उपसर्ग सम्भाव्य है।

३—इस्नोफिलिक लिकोसाइट्स—इस प्रकार के श्वेत कण अधिकसंख्या में ब्रोन्किअल स्थमा रोगियों के सावेग युक्त श्वास रोग से निकलने वाले कफ में मिला करते हैं। इससे इस रोग के द्योतन होता है। जहां तक निदान का अधिक महत्व है वहां तक ये श्वास रोग के लिये विकारीय या (पैथोग्नोमोनिक) नहीं होते हैं। देखने में ये साधारण पूय कोषाणु वत् मालूम पड़ते हैं, केवल भिन्नता इतनी ही होती है कि इनका साइक्टोप्लाज्म बड़े बड़े ग्रेन्यूल्स से पूर्ण होता है जिससे (Eosin) द्वारा स्पष्ट दिखलाई पड़ सके। कभी

कभी अनेक उनके रक्तकणों के केन्द्र बहुकन्द्रीय हुआ करते हैं। ये इनब्लूशन (Involution) फार्महोते हैं न कि माइलोसाइड्स। इनमें स्नोफिल श्वेताणु अधिकतर (Fragde) होते हैं और ग्रेन्युल्स स्वतन्त्र होते हैं जो डिसिनटेगरेटेड कोष से पृथक किये जा सकतें हैं। यह कोष भी उपस्थित रहते हैं। स्नोफिल श्वेताणु अरंजित अवस्था के श्लेष्मा में अपने ग्रेन्युल्स के रूक्षता के कारण पहचाने जाते हैं। लेकिन निश्चित निदान के लिये जिन रंजकों में (Eosin) पड़ता हो उनका ही प्रयोग करना चाहिये। इनके रंजन करने के लिये एक साधारणविधि नीचे लिखी जा रही है।

१—श्लेष्म के प्लेट निर्माण कर और सुखाकर एवं अग्नि पर गरम कर स्थिर कर ले, बाद में दो मिनट तक इसको यूसिन के संतृप्तविलियन या सेचुरेटेड सेलूशन आफ यूसिन में और पुनः लोफलर्स मिथिलन ब्लू द्वारा डेढ़ मिनट तक (उस समय तक) रंग करना चाहिये जब तब कि प्लेट का पतला भाग विल्कुल नीला न हो जाय, इससे जीवाणु और केन्द्र भी नीले होगें और स्नोफिल के ग्रन्यूअल्स या कण तीव्र बाल रंग के हो जावेंगे। इस कर्म के लिये राइट्स अथवा जीनर्स स्टेन का भी व्यवहार किया जा सकता है।

२—एन्डोथीलिअल सेल्स या अन्तरकोषीय कोषाणु—इनका प्रत्यक्ष अभिज्ञान अरंजित अवस्था के श्लेष्मा में सुलभ पूर्वक होता है और वर्णन पिगमेंन्टेड सेल्स नामक शीर्षक में द्वितीय अध्याय में किया गया है। पाठक गण उसी स्थान में पढ़कर ज्ञान प्राप्त करें।

३—इपीथीलिअल सेल्स अन्तः श्लेष्मीय कोषाणु—यह श्वास-नलिका के किसी भी भाग से निकला करते हैं, जब किसी कोषाणु का डिसकोमेसन (Disquamation) प्रारम्भ होने लगता है उस समय ये थोड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। जिन व्यक्तियों के

श्लेष्मा में ये उपस्थित रहा करते हैं तो उनको पहचानने से यह निर्णय होता है, कि श्लेष्मा किस स्थान से निकल रहा है। इसी कारण इनको कभी कभी इन्हें रोग निर्देशक कोषाणु अथवा माइड्स सेल्स कहा करते हैं। किसी भी संशयप्रद फुप्फुसीयरोगों में निदानार्थ नासिका स्राव को केवल रंजन कर प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने से निश्चित ज्ञान नहीं होता है। इनसे रोग निदान में थोड़ी सहायता तो मिलती है, लेकिन अधिक मात्रा में इसका उपस्थित होना विकृति का निर्देशक हुआ करता है। जो रंजन द्रव पहले वर्णित किये हैं उनमें किसी भी एक का व्यवहार करने से इनका ज्ञान हो सकता है। इनके तीन प्रकार हैं।

१—स्क्वमिस सेल्स-इन कोषाणुओं का केन्द्र छोटा होता है और आकार में बड़े चौड़े और पोलिगन होते हैं। ये वायु प्रणाली के ऊर्ध्व भाग से आया करते हैं और विशेष तौर से अधिक संख्या में स्वर यंत्र शोथ रोग में मिला करते हैं ये जीवाणु अधिकांश तया डिप्लोकोकाई जीवाणु जन्य होते हैं।

२—सिलिनड्रिक सेल्स ये कोषाणु नासिका श्वासप्रणाली और वायुप्रणाली में रहते हैं इनकी संख्या अधिक नहीं होती है इनको परीक्षक सुगमता से इस कारण नहीं पहचानते हैं कि ये अपने मूल-स्थान से परिवर्त्तित हो जाते हैं और ये गोल तथा गहरे होते हैं। यह कोषाणु सीलया से कम होते हैं, परन्तु कभी कभी वायुप्रणाली जन्य श्वास रोग और उग्र कास में दिखाई पड़ते हैं। जब श्लेष्मा बिलकुल ताजा होता है तब सीलिया सक्रिय गति करते हैं जिससे इन्फ्यूजेरिया का भ्रम होता है।

३—एलवीलोअर सेल्स या वायुकोषाणु ये लम्बे गोल अण्डा-कार और रक्तकण के व्यास से तीन से ६ गुना अधिक होते हैं और

इनमें एक या दो गोलाकार केन्द्र होता है। सम्भवतः इनका मूल स्थान पलमोनरी एलवयूलाई या फुफ्फुसीय वायुकोष होते हैं। सम्भवतः इनके भी कोषों का इनमें समावेश किया गया है। वे सम्पूर्ण वास्तव में इन्डोथेलिअल लिकोसाइट्स वर्ग के हैं।

४—रक्तकण ये अधिकांशतया रोगियों के श्लेष्मा में अल्पमात्रा में रहते हैं, जब ये स्पष्टरूप में अधिक मिलते हैं तब यक्ष्मारोग का संशय हुआ करता है। यदि ताजा श्लेष्मा हो तो अरंजित अवस्था में इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाया करता है और किसी भी यूसिन युक्त रंजन द्वारा परीक्षा कर सकते हैं। सामान्यतया नग्न दृष्टि द्वारा भी श्लेष्मा में रक्तकण देखे जा सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय

रासायनिक श्लेष्मपरीक्षण—(Chemical examination)

इस परीक्षा द्वारा अल्प अंश में कुछ ज्ञान हो सकता है इस कारण यदा तदा इसका व्यवहार होता है। अल्व्यूमिन का उपस्थित एवं अनुपस्थित होना ही इस रोग निदान का चिह्न हो सकता है। अलव्यूमिन निमोनिया फुफ्फुसीय शोथ और राजयक्ष्मा रोग में अधिकांश उपस्थित रहा ही करता है। सामान्यतया यह कासरोग में नहीं मिला करता। इस कारण केवल अल्व्यूमिन की परीक्षा करके कास और यक्ष्मा रोग का निर्णय कर लिया जाता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि इस परीक्षा के ऊपर निर्भर रहा जाय। परीक्षा निम्न पद्धति द्वारा करनी चाहिये—विधिः १—रोगी के १० शीशी मात्रा कफ में १ प्रतिशत शक्ति का एसेटिक एसिड ३० शीशी मात्रा में डाला जाय और बाद में भली प्रकार हिलाकर मिला लिया जाय, यह कर्म एक बन्द कार्कवाली शीशी में करना श्रेयष्कर है। एसेटिक एसिड के मिलाप दे दने से श्लेष्मा में अवक्षेप आ जाता है।

२—निष्यन्दक पत्र या फिल्टर पेपर द्वारा छान लेना चाहिये।

३—इस निष्यन्दित श्लेष्मा में जो अलव्यूमिन की परीक्षा मूत्र परीक्षा में वर्णन की गई है उसी के अनुसार इसका परिणाम तथा प्रतिशत निकाल ले इसके लिये रिंग टेस्ट अथवा मुद्रिका परीक्षा और हीट टेस्ट या ताप परीक्षा का ही अवलम्बन करना चाहिये और एलव्यूमिन का प्रतिशत नापने के लिये एलव्यूमिन प्रतिशत मापक यंत्र अथवा एलव्यूमिनोमीटर का व्यवहार करना चाहिये। इसका प्रतिशत निकालने के लिये इस्वेक्स रीजेन्ट Esbachs डालना आवश्यक होता है। यक्ष्मा रोग नूतन हो अथवा वर्धित हो सामान्यतया उसमें एलव्यूमिन ०. २ प्रतिशत अथवा इससे अधिक मिला करता है। इससे हीन अवस्था के रोगियों में ०. २ प्रतिशत से कम रहता है। परीक्षार्थ श्लेष्मा सदैव ताजा ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा निष्क्रिय प्रतिक्रिया सक्रिय रूप में कोषों के (डिसिंग टेगरेटेड) के कारण हो जाते हैं।

पंचम अध्याय

विभिन्न रोगों में श्लेष्मा Sputum-indisease अधिकतर स्वस्थ पुरुषों में प्रातःकालीन श्लष्मा की अधिकता केवल धूम्र और धूलि के अन्तः शोषित हो जाने के कारण होती है। इसको विकारीय और हानिकारक कहा जाता है। सामान्यतया यह विना खांसे ही स्वरयंत्र तक पहुँच जाता है। प्रधानतया यह अवस्था नगर निवासियों में जो सिगरेट आदि का अधिक पान करते हैं उनमें अधिक रहा करती है। कभी कभी किसी समय इसी श्लेष्मा का मात्रा इतनी अधिक हो जाती है जिससे यक्ष्मा रोग का भ्रम उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार के प्रातःकालीन श्लेष्मा में यह

कम होतें हैं। अधिक घन और जिसमें श्लेष्मांश अधिक हो और श्वेत रंग का हो और जब धूम्रपान अन्तः शोषित हो जाय तब श्लेष्मा का रंग भूरा रहा करता है। मृताश्रयी कीटाणु भी अल्प संख्या में उपस्थित रहा करते हैं।

१—उग्रकास या एक्यूट ब्रोन्काइटिस—(Acute-bronchitis) इसमें सबसे पूर्व श्लेष्मा गाढ़ा श्लेष्मीययुक्त किंचित् शोणितयुक्त अल्प परिमाण में निकलता है। यही मात्रा शनैः शनैः अधिक होकर उसका स्वभाव सपूययुक्त हो जाता है और वर्ण पीला और भूरा हो जाता है। प्रथम अणुवीक्षणयंत्र द्वारा देखने पर श्वेत कण और वायु-प्रणाली कोष पाये जाते हैं और कुछ समय बाद इन्हीं श्वेत कणों की अधिकता हो जाती है कीटाणुओं की संख्या अधिक नहीं पाई जाती।

२—जीर्णकास या क्रोनिक ब्रोन्काइटिस—इस रोग में श्लेष्मा की मात्रा अधिक होती है श्लेष्मा का रंग पीला हरा या हरितपीत मिश्रित और सपूय रहा करता है। यक्ष्मा रोग के सामान्य (नमुल-रसेल्स) भी कभी दृष्टिगोचर होते हैं। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखनेपर श्लेष्मा में पूय कोषाणु अधिक और डिसिटिगरेटेड होते हैं। एपी-थिलिअम बहुतायत से नहीं पाये जाते हैं। बहुप्रकारीय कीटाणुओं में से विशेषतया स्टेफलोकोकाई ही उपस्थित रहते हैं। फेब्रोनस ब्रोकांटिस रोग में उपर्युक्त कीटाणु के अलावा फाइब्रेनस कास्ट ही उपस्थित रहा करते हैं। इनका माप मध्यम होता है। जीर्णकास रोग में यदि अधिक समय तक फुफ्फुस में सक्रिय रक्ताधिक्य हो जाय, जैसा कि हृदय का सन्तुलन नष्ट हो जाने पर श्लेष्मा मण्डूर और भूरे वर्ण का होता है। इसका कारण हार्टफेल्योर सेल्स की अधिकता ही होती है।

३—वायुप्रणाली विस्तार या ब्रोन्क्योटेसिस—इस रोग में रोगी का कफ हरा और भूरे रंग का एवं इसमें दुर्गन्धि आती है तथा श्लेष्मा की मात्रा २४ घंटे में अधिकाधिक एक लिटर तक पहुँच जाती है। जीर्णकास रोग में जो श्लेष्मा निकलता रहता है उससे यह पतला होता है और रखने पर ये तीन स्तरों पर विभाजित हो जाना है। १—पूय २—रक्तरस या सिरम ३—घन श्लेष्मा या फेरोथीम्यूकस—इस कफ में विभिन्न प्रकार के कीटाणु उपस्थित रहा करते हैं। सामान्यतया अल्प प्रमाण में रक्तस्राव भी हुआ करता है। इस रोग के द्योतक चिह्न यह होता है कि फुप्फुस में बृहत विवर बन जाते हैं और प्रातः उठते ही लेश्ष्मा विवर से रिक्त हो जाया करते हैं।

४—फुप्फुसीय निर्जीगत्वान्क या गेन्गरीन आफ दी लन्गस—इसमें श्लेष्मा अधिक मात्रा में और तरल अधिक दुर्गन्धित और उसका रंग भूरा रहा करता है। यह भी कुछ समय तक रखने पर तीन स्तरों में पृथक् हो जाता है। १—गाढा भूरे का अवक्षेप पूय का २—डिवरिज रक्त के धब्बे ३—स्वच्छ द्रव तथा घन स्तर या (Frothy) अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर कुछ कोषाणु किसी भी प्रकार के पाये जाते हैं, जीवाणु की संख्या अधिक होती है और इनमें कुछ अम्लसाही वर्ग के भी पाये जाते हैं जो स्मेगमा विसलाई सदृश होते हैं। इनमें एलास्ट्रिक फाइब्रस अधिक उपस्थित रहता है।

५—फुप्फुसीय शोथ अथवा पलमोनरी ओडिमा—इस अवस्था में जल युक्त घन छिछड़े युक्त श्लेष्मा अधिक मात्रा में और उसका रंग पीले से गुलाबी तथा गहरे भूरे रंग का होता है, इनके अलावा कुछ श्वेत कण और इपीथीलिअल कोष और अधिक मात्रा में रक्त कण भी उपस्थित रहते हैं।

६–वायुप्रणाली श्वास अथवा ब्रोंकियल एस्थमा–इस रोग के आक्रमण के समय और बाद में श्लेष्मा की मात्रा अल्प श्लेष्मीय युक्त और अधिक गाढी होती है। इनमें कृशमेन्सस्पेरल रहा करते हैं और सार्कट्ट लेडिन क्रस्टल्स तथा स्नोफिल श्वेताणु भी उपस्थित रहते हैं।

७–क्रुप्स निमोनिया-इस रोग के पहचानने के लिये निम्नलिखित चिह्न हुआ करते हैं। रोगी का श्लेष्मा मण्डूर वर्ण का गाढा पिच्छिल अल्प मात्रा में और उसमें रक्त कण और रक्त के धब्बे श्वेतकण इपीथीलिअल सेल्स एवं नियमोकोकाई और अल्प अंश में (फाइब्रेनस कास्ट) रहा करते हैं। ये रोगी के कफ में उस समय उपस्थित रहते हैं जब फुप्फुस में रक्त यकृतीयभवन (ग्रेहेपेटाइजेशन) की अवस्था और उपसमावस्था या (स्टेज आफ रिजुलूशन) होने पर श्लेष्मा जीर्ण कास रोग के समान प्रतीत होती है। यदि जीर्ण कास रोग के साथ निमोनिया हो जाय तो मन्डूर वर्ण का श्लेष्मा नहीं मिला करता।

८–फुप्फुसीय राजयक्ष्मा अथवा पलमोनरी टुवरक्लोसिस–– इस रोग म श्लेष्मा अनेक प्रकार का देखा जाता है। राजयक्ष्मा की पूर्व अवस्था में श्लेष्मा केवल प्रातः काल ही मिला करता है और बाद में कम हो जाता है, अधिकांशतया श्लष्मीय सूत्र ही होते हैं कभी कभी उनमें पीत वर्ण का भाव रहता है अथवा कभी कभी उसमें सपूय श्लेष्मा का घन भाग ही रहता है जो माचिस की काड़ी के समान ही होता है। जब कफ का परिमाण कम होता है तब उसमें श्लेष्मा नहीं रहता है और वायु प्रणालीय में सीलिया होने के कारण स्वर यंत्रतक पहुँच जाया करता है। इस चिह्न द्वारा चिकित्सक भली प्रकार रोग का ज्ञान नहीं कर सकते।

यहाँ तक कि रोगी के सम्पूर्ण श्लेष्मा को कई दिवस तक केवल पीतभाग को अणुवीक्षण परीक्षा करनी होती है जब तक भौतिक चिह्न द्वारा कोई निश्चित लक्षण न मिले। जिन श्लेष्मा में शोणित दर्शन होता है वह अवश्य यक्ष्मा रोग का चिह्न होता है। यह लक्षण नूतन अवस्था में ही अधिक मिलते हैं, इससे केवल रोग बढने का ज्ञान होता है। इसी रोग के बढ़ जाने पर श्लेष्मा बिल्कुल जीर्ण कास रोग वत् प्रतीत होता है। लेकिन उसमें यक्ष्मकीटाणु और सौत्रिक धात्वीय सूत्रों की अधिकता रहती है। Caseous-particles के अन्दर अधिक संख्या में कीटाणु रहते हैं, अतिवर्धित यक्ष्मा रोग जिसमें विवर बड़े बड़े हुये हों उनमें गोलाकार और अण्डाकार भूरे रंग का घन भाग के सदृश जो मिलता है उसे ग्लोब्यूलर स्प्यूटम कहा जाता है। सामान्यतया इनमें यक्ष्मकीटाणु रहते हैं अधिक रक्तस्राव होने के कारण भी श्लेष्मा में रक्त कण और रक्त के थक्के मिले रहते हैं।

परिशिष्ट

रंजन विलियन: (स्टेनिंग सेल्यूसन्स)

इस प्रकरण में श्लेष्मरंजन करने के लिये जो विलियन निर्माण किये जाते हैं उनपर भी प्रकाश डाला जायगा जो कीटाणु दर्शन में सहायक होते हैं।

१–कार्बोफक्सिचन (Carbol Fuschin)––यह रंजन फिनोल द्वारा निर्माण किया जाता है जो एक तीव्र जीवाणु रंजक होता है इसका मुख्यतया प्रयोग यक्ष्मकीटाणु के लिये करते हैं––

योग–कार्वोलफक्सिचनवेसिक फक्सिन . . . . . . १ ग्राम

२–एवस्यूलूट एलकोहल . . . . १० शीशी

३–पाँच प्रतिशत शक्ति का कार्वोलिक अम्ल का जलीय विलियन

(५ परसेन्ट एक्वस कार्वोलिक एसिड) ९० शीशी

१–(Czaple wski's) जेपले स्कीज कार्वोलफक्सिचन––––

कार्वोलफक्सिचन . . . . १ ग्राम

लिक्वीफाइड फिलोन . . . . ५ शीशी

ग्लीसरोल या ग्लीसरीन . . . . ५० ,,

इन सबको भली प्रकार मिश्रित कर बाद में इसमें ५० शीशी जल मिला ले और छानकर व्यवहार में लावे। कुछ लोग कार्वोलिक एसिड के स्थान पर फिलोनका व्यवहार करते हैं।

२–गेवट्सस्टेन––यह रंजित विलियन यक्ष्मा की कीटाणुओं में प्रयुक्त किया जाता है– योग–मिथिलन ब्लू . . . . . . २ ग्राम

जल या वाटर . . . . ७५ शीशी

घन गन्धकाम्ल या कन्सन्ट्रेटेड सलफ्यूरिक एसिड २५ शीशी

३–लोफ़लर्स एलकालाइन मिथिलन ब्लू–इसको भी लोफलर्स स्टेन कहते हैं। सामान्यतया इसका अधिक उपयोग होता है।

योग–(संतृप्त एल्कोहलीय मिथिलन ब्लू का विलियन..३० शी. शी., सेचुरेटेड एलकोहालिक सेल्युशन आफ मिथिलन ब्लू) २ शुद्ध तिर्यकपातित या डिस्टिल्ड वाटर...१०० शीशी, कास्टिक पोटास का एक प्रतिशत विलियन......१ शीशी (१ परसेंट सेलूशन आफ कास्टिक पोटास)

४––पेपिनहेम्स मिथिलन ब्लू.....इसका व्यवहार विरंजन के लिये करते हैं। विशेषतया राजयक्ष्मा कीटाणुओं के पेपिनहेम्स पद्धिति

योग––कोरालिन रौस्टिक एसिड........१ ग्राम
एब्स्युलूट एलकोहल. ....१०० शीशी
मिथिलन ब्लूका संतृप्त ग्लीसरोल. . . .२० शीशी

५––पैपिनहेम्स पाइरोनाइन मिथिलन ग्रीन स्टेन....यह विलियन जीवाणु को लाल रंग में रंगता है और कोषाणुओं के कोषों को नीले रंग में। इसका उपयोग उन जीवाणु के लिये करते हैं जो अन्तर कोषीय जीवाणु होते हैं। जैसे गोनोकोकस इन्फ्लुएन्जा का जीवाणु, ये विलियन ग्राम्स रजक पद्धति के लिये भी एक विरोधी रंजन है और रक्त में रहने वाले डवलेस वौडीज के लिये उपयोग करते हैं। यह लसिकाणुओं के साइटोप्लाजम को तीव्र लालरंग में रंग देता है। एवं इन कोषाणुओं को पृथक् कर गणना किया जाताहै।

योग–१–संतृप्त मिथाइलग्रीन का जलीय विलियन.....३ भाग।
२––पायरोनिन का सतृप्त जलीय विलियन १ से १।। भाग।

इन दोनों को एकत्रित एक माह तक रक्खा रहने दें। बाद में रंजन कार्यके लिये उपयोग करे लेकिन यह विलियन चिरकालिक हो गया है अत एव इसके स्थान पर आजकल निम्नलिखित विलियन व्यवहार करते हैं––

मिथाइल ग्रीन ५० प्रतिशत (Dye-content).......१ ग्राम
पाइरोनिन (कमीशन द्वारा प्रमाणित)........०. २५ ग्राम
इथाइल एलकोहाइल ९५ प्रतिशत शक्ति का......५ शीशी।
ग्लीसरोल.................२० शीशी
फिनोल का २ प्रतिशत जलीय विलियन.......१०० शीशी

६—ग्राम्स आयोडीन विलियन इस विलियन का प्रयोग ग्राम्स रंजन पद्धिति में करते हैं और कई कार्य के लिये विरोधीय रंजन माना जाता है। जिनमें स्टार्च हो उनके लिये हलका विलियन व्यवहार में लाना चाहिये और लेप्टो ट्राइकिया वक्केलेस के लिये तेज घोल प्रयोग में लाना चाहिये।

योग–१–आइडीन.......१ ग्राम २–पोटासियम आयोडाइ...२ ग्राम ३––जल....३०० शीशी ।

लिगोल्ससल्यूशन––योग––

लाइकर आयोडीन कम्पोजिटस (यू.एस.पी.का आयोडीन)...५ ग्राम
पोटासियम आयोडाइड..........................१० ग्राम
जल..................................१०० शीशी

यदि इस घोल से ग्राम्स आयोडीन विलियन निर्माण करना हो तो इसके आयतन से १४ गुना अधिक जल मिलाने से बन सकता है।

७––हिस्स मैथड या हिस्स महोदय का रंजन (कोषावरण)
योग–सेचूरेटेड एलकोहालिक सेल्यूशन जैन्सनवाइलेट... ५ शीशी
डिस्टिल्ड वाटर तिर्यकपातिक जल————————९५ शीशी

इस प्रकरण में उन्हीं रंजन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है जिनका व्यवहार श्लेष्मरंजन के लिये होना चाहिये।

समाप्त

हृदय-परीक्षा

लेखक—प्रोफेसर–रमेशचन्द्र वर्मा, आयुर्वेद युनिवर्सीटी, झांसी ।

इस पुस्तक में हृदय-परीक्षा की सम्पूर्ण विधि सरल और प्रांजल भाषा में बतलाये गये हैं। किस अवस्था में किस रोग की आशंका की जाय आदि छात्रोपयोगी विषयों से सुसज्जित पुस्तक का मूल्य १॥) मात्र रखा गया है ।

मलेरिया (एलोपैथिक)

लेखक—डा० मनमोहन धूप **मूल्य** २।)

यह मलेरिया के ऊपर बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें सर्व प्रकार की नवीनतम औषधियां तथा उनके उपयोग, दोष आदि सब विषय दिये हैं। जैसे :—

वर्णन, ज्वर, इतिहास, मलेरिया के कारण, कीटाणू, (प्लाजमोडियम मलेरिया, प्लाज मोडियम वाई वेक्स, प्लाजमोडियम फालसी पारम) मलेरिया से प्रतिवर्ष देश का नुकसान, ज्वर किस प्रकार होता है, मच्छर में साइकील, पैथालॉजी, मलेरिया के लक्षण, प्रथमज्वर, ज्वर आरम्भ होने के लक्षण, प्राड्रोमेटा, कोल्ड स्टेज, होटस्टेज, पसीने की अवस्था-बिलीयस रेमीटेंट फीवर, सीरीब्रल मलेरिया, मलेरिया का अन्धापन, एलजिओ, कारडायक, रक्तपात परप्यूरिक, मलेरिया रीलेप्स, काकेक्सीया, कम्प्लीकेशन्स, मलेरिया के लक्षणों का चित्र, निदान, अन्य ज्वरों से अन्तर, परिणाम, चिकित्सा, साधारण चिकित्सा, आहार (खान पान) कुनीन मुंह के रास्ते सेवन करने की विधि, कुनीन उबलने वाली, कुनीन बिना कडुवापन, कुनीन की कुछ जानने लायक बातें, पुराना मलेरिया, परनीशीयसमलेरिया, कुनीन, हृदय पर कुनीन का प्रभाव, कुनीन का रक्त में प्रवेश, और शरीर से बाहर निकास, मलेरिया नाशक औषधियाँ, विषैले प्रभाव, पालूड्रीन, पामाक्वीन, नवीन मलेरिया नाशक, मैपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड अटाब्रीन, मैपाक्रीन का टीका, पालुड्रीन प्रोगूनील, क्रानिक मलेरिया-ज्वर-अनीमिया, मलेरिया से बढ़ी हुई तिल्ली, तिल्ली के बड़ा होने का कारण, ब्लैक वाटर फीवर, लक्षण, परिणाम, चिकित्सा।